श्री मान् पं. रामाज्ञा जी पाण्डेय

रांची

दार्शनिक विचार

राजा बलदेवदास बिरला

मुद्रक व प्रकाशक—
माधव विष्णु पराड़कर
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, ज्ञानमण्डल लि०, काशी।

विषयानुक्रमणिका

दार्शनिक विचार

PHILOSOPHICAL THOUGHTS

शुद्धिपत्र

श्रीमद्भगवद्गीता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	६	महाभारते	महाभारतम्
,,	८	मंव	मम्व
,,	,,	भवेद्वेपिणीम्	भवद्वेपिणीम्
,,	१०	यन	येन
२०	१४	तस्मात्सवगतं	तस्मात्सर्वगतं
२९	१३	...क्षमिपत्नपि	...क्षिमिपत्नपि
५२	१५	यत्वयोक्तं	यत्त्वयोक्तम्
,,	१६	श्रुतो	श्रुतौ
६०	५	खखेव	सखेव
६४	२०	क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो...	क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो...
७२	३	परिमार्गतव्यं	परिमार्गितव्यं

रुद्राष्टाध्यायी

९१	१२	दैव्यार्ं	दैव्या॑
९२	५	हृत्प्रतिप्ठुन्य्य	हृत्प्रतिष्ठुं य

दार्शनिक विचार

१४	१५	पाथ	पार्थ
२१	५	व्यय	अव्यय
३९	८	सात्विक...	सात्त्विक...
४१	१६	...तत्वमेव	...तत्त्वमेव
,,	१७	...तत्वं	...तत्त्वं
,,	१९-२०	भगवत्तत्वज्ञाने	भगवत्तत्त्वज्ञाने
४२	१४	मभा०	म० भा०
५०	७	पुरुपार्थपरं	पुरुपार्थ परं

प्राक्कथन

वेदोऽखिलो धर्म्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥
यः कश्चित्कस्यचिद्धर्म्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्व्वोऽभिहितो वेदे सर्व्वज्ञानमयो हि सः ॥

[मनु०, अ० २—६, ७]

वेद ही धर्मका मूल है। वेद 'सर्वज्ञानमय' है। यह हम मानते हैं पर समझते नहीं। मानना व्यर्थ है यदि जानते ही नहीं कि क्या मानते हैं। हिन्दू मात्रका विश्वास है कि वेदसे ही सब धर्मोंकी उत्पत्ति हुई है। 'नाऽसौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्' इस लोकोक्तिद्वारा बताया गया है कि प्रत्येक मुनि अर्थात् मननशील—विचारशील पुरुषके मत भिन्न भिन्न होते हैं। पर सब इस बातमें एकमत हैं कि धर्मका मूल वेद है। मतभेद उस ज्ञानमय वेदके तात्पर्यके सम्बन्धमें होते रहे हैं और होते रहेंगे। पर वेदप्रामाण्य हमारे लिए निर्विवाद है। वह वेद क्या है, यह जानना आवश्यक है। अपनी बुद्धि और समझके अनुसार श्रीमान् राजा बलदेवदास बिरलाने यही समझानेका यत्न किया है। धर्मशास्त्रके विधानानुसार संसारकृत्य सफलतापूर्वक समाप्त कर, उसका भार अपने योग्य पुत्रोंको अर्पण कर राजा साहबने अपना शेष जीवन उस ज्ञानको सर्वसाधारणतक पहुँचानेमें लगाया है जिसे आपने, संसार करते

हुए, विद्वज्जनों और सन्त महात्माओंके समागमसे शनैः शनैः प्राप्त किया और जिसका अभ्यास आप सतत मननद्वारा करते रहते हैं। राजा बलदेवदासका ज्ञान उनके वैभवके समान स्वयमुपार्जित है। वह केवल पुस्तकीय नहीं है। अपने भीतर आप जिसका अनुभव करते हैं उसे ही शब्दोंद्वारा व्यक्त करते रहते हैं और उसे ही वेदोंमें पाते हैं। यही कारण है कि आप श्रुतिका जो विवेचन करते हैं उसमें एक प्रकारका वैचित्र्य दिखाई देता है। यह वैचित्र्य स्वतंत्र विचार और अनुभवका फल है। वेद, आत्मा, प्राण, शरीर, इनपर जब आप बातें करने लगते हैं तब ऐसा मालूम होता है कि अपनी अनुभूति व्यक्त कर रहे हैं, विद्वत्ता नहीं बघार रहे हैं। जिस अनुभूतिसे उन्हें शान्ति मिली है, सन्तोष प्राप्त हुआ है और उस आनन्दमयको अपने भीतर और बाहर देखा है उसीको आपने लोककल्याणार्थ प्रकट किया है।

प्रथमतः संवत् १९८३ वि०में 'छान्दोग्योपनिषत् रहस्य' नामकी पुस्तक आपने कलकत्तेसे प्रकाशित करायी। यद्यपि इसमें केवल छान्दोग्योपनिषत्का ही रहस्य समझानेकी बात कही गयी है पर वस्तुतः यह वह उपनिषत्सार है जो राजा साहबको निजके यत्न और अनुभवसे प्राप्त हुआ है। इसकी भूमिकामें आपने एक जगह अपना सिद्धान्त इस प्रकार व्यक्त किया है—"उपनिषदोंमें आदित्यको प्राण और चन्द्रको रयि (अन्न या भोग्य) कहा गया है। पृथ्वी आदि मूर्त्तिमान् पदार्थ चन्द्ररूप भोग्य हैं। वायु और तेज आदित्य हैं। भोक्ता तीनों लोकोंका उत्पन्न पालन और संहार करता है। ये ही भोक्ता और भोग्य सांख्य-शास्त्रकी पुरुष-प्रकृति बनकर विश्वका सृजन करते हैं। प्राणरूप सूर्य प्रत्येक शरीरकी

प्रत्येक इन्द्रियमें अपनी किरणोंद्वारा प्रवेश कर प्रकाश और शक्ति प्रदान करता तथा उत्तर, पूर्व आदि दिशाओं और ईशानादि कोणोंमें प्रवेश कर उनको प्रकाशवान् बनाता है। इस लिये वही व्यापक और सब प्राणियोंका आश्रयस्थान है।" यहाँ जो तत्त्व अत्यन्त संक्षेपमें बताया गया है उसीको अधिक स्पष्ट करनेका यत्न छान्दोग्योपनिषत्पर की गयी आपकी 'सरलार्थ' टीकामें आद्योपान्त किया दृष्टिगोचर होता है।

इसके बाद आपने संवत् १९९२ वि०में काशीसे 'वेदान्त वा आत्मविचार' प्रकाशित कराया। प्रथम पुस्तकमें उपनिषत्के सहारे जो समझानेका यत्न किया गया है वही वेदान्त सूत्रोंके सहारे इस पुस्तकमें अधिक विशद ही नहीं किया गया वरंच नये प्रमाणों द्वारा विशेषरूपसे समझाया भी गया है। १९८३ वि०में जो अंकुररूपमें दिखाई दे रहा था वही इसमें पल्लवित हुआ दृष्टि-गोचर होता है और इस पुस्तककी अष्टादश-श्लोकी वेदगीतासे वह फल-शाखान्वित वृक्ष बन गया है। इसपर अधिक लिखनेके पहले प्रसंगवश यह कह देना अनुचित न होगा कि राजा साहब अपने विषयसे अब तन्मय हो गये हैं। यही आपका निदिध्यास है। अपना सांसारिक कृत्य सुसम्पन्न करते हुए भी आप जो गवेषणा कर रहे थे वह पहले पहल अंकुररूपमें संवत् १९८३ में लोकालयमें प्रकट हुई। परन्तु इसका आरम्भ बहुत पहले ही हो चुका होगा, यह भी स्पष्ट है। आरम्भ कैसे हुआ और क्यों हुआ, यह एक मनो-विज्ञानका प्रश्न है। बाहरसे जो व्यक्ति धनोपार्जनमें लिप्त दिखाई देता है वही भीतर ही भीतर व्यक्ति और व्यष्टि, परमात्मा और उसकी सृष्टि, अन्तरेन्द्रिय और बाह्य-कृतिको एक करनेमें

लिप्त होता है, यह बात सकृद्दर्शनमें विपरीत मालूम होती है पर कुछ विचार कर देखनेसे यह विरोध जाता रहता है। इसका उत्तम दृष्टान्त राजा जनकका है। राजा होते हुए भी जनक अद्वैत वेदान्तके आचार्य हैं, जिनके पास बड़े बड़े ऋषि भी परमज्ञान प्राप्त करनेके लिए जाते थे। इसका कारण यह है कि वेदान्त केवल शुष्क कल्पना नहीं है, आत्मानुभूति है; यह अनुभूति उसीको प्राप्त हो सकती है जिसकी अन्तर्दृष्टि तप और योगसे निर्मल हो गयी है और जिसने बाह्य संसारको भी भलीभाँति समझा है और समझकर अपनेमें देख लिया है।

इसका सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त भगवान् श्रीकृष्णमें पाया जाता है। श्रीकृष्ण स्वयं राजा नहीं थे पर उनके चरणकमल राजमुकुटोंसे रंजित हो रहे थे। कुरुक्षेत्रमें उन्होंने शस्त्र ग्रहण नहीं किया पर वही सर्वश्रेष्ठ सेनानीका काम कर रहे थे। सोलह सहस्र गोपिकाओं और आठ पटरानियोंके पति होनेपर भी वे बालब्रह्मचारी बने रहे। सारा कर्म करते हुए भी उससे अलिप्त रहनेकी कलाका, उन्हींके बताये अनासक्ति-योगका यह परिणाम है। वह सब कुछ करता हुआ कर्मसे अलिप्त रहता है। भोग्य और भोक्ता होकर भी वह केवल द्रष्टा बना रहता है। सब देहोंमें पुरुष-रूपसे वास करते हुए संसारके सब काम वही करता और कराता दीख पड़ता है सही, पर है केवल साक्षी। यह पूर्णरूपेण सम्भव उसीके लिए है जो सबका अनुभव करके उससे अलिप्त यानी अनासक्त रह सकता है। उसीमें पूर्णब्रह्म व्यक्त होता है—उसके लिए, औरोंके लिए नहीं। औरोंको तो वह संसार-लिप्त साधारण मनुष्य ही दिखाई देता है। अर्थात् पूर्णत्व उसको प्राप्त नहीं होता जो सबका त्याग

करके असङ्ग होनेकी व्यर्थ चेष्टा करता है प्रत्युत उसको होता है जो सब कुछ करता हुआ अपने कार्यसे अलिप्त रहता है—'पद्म-पत्रमिवाम्भसि ।' यह केवल मेरी कल्पना ही नहीं वरञ्च भगवान्‌के कृष्णजन्मका अनुभव है जो आपने इस श्लोक द्वारा व्यक्त किया है—'विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः, रस वर्जं, रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।' अर्थात्, यदि इन्द्रियोंको भूखों मारा जाय तो उनमें विषय-भोगकी शक्ति न रह जायगी पर भोगकी इच्छा (वासना वा रस) बनी ही रहेगी । तात्पर्य यह कि कर्म न करनेसे, डरके मारे कर्मसे दूर भागनेसे कर्म करनेकी शक्ति नहीं रह जाती पर इच्छा बनी रहती है । जिन लोगोंने मध्ययुगीन ईसाई सन्तोंका इतिहास पढ़ा है वे इस बातको भलीभाँति समझ सकते हैं । वे सन्त रक्तमांस-मय शरीरको पापका पुतला समझकर उसे तरह-तरहसे कष्ट देकर विषयोंसे विमुख करना चाहते थे पर होता था ठीक उसका विपरीत । उनके निर्बल और कष्टमय शरीर विषयोंकी ओर अधिक खिंचते रहते थे । इसका हृदयग्राही वर्णन उन लोगोंने आत्म-कथाओंमें किया है । उससे श्रीकृष्णकी इस उक्तिका समर्थन होता है कि विषयोंसे अपने आपको जबर्दस्ती अलग करनेसे इंद्रियोंकी—राजा साहबके शब्दमें भाव-शरीरकी—विषय-भोगकी शक्ति नष्ट हो जाती है पर वासना बनी ही रहती है । वह जाती रहती है—'परं दृष्ट्वा', अर्थात् मूलतत्त्वको समझनेसे । किसी चीजसे अलग होकर उसका तत्त्व समझमें नहीं आता, यह बात स्पष्ट है । विषयोंसे अलग रहकर जीव अनासक्त नहीं हो सकता । विषयोंमें रहते हुए उसके तत्त्वको समझकर ही सच्ची अनासक्ति प्राप्त की

जा सकती है। आवश्यकता है उनमें रहकर उनके रूपको समझनेका यत्न करनेकी।

मुझे राजा बल्देवदास बिरलाके सहवासका सुयोग अधिक प्राप्त नहीं हुआ है। पर आपके सफल सांसारिक जीवनका जो थोड़ा आभास मैंने दूरसे पाया है और कभी-कभी आपके ही मुखसे आपके विचार सुननेका जो अवसर मिला है, उससे मेरी यह धारणा हो गयी है कि आपके सांसारिक जीवन तथा आत्मा-नात्म-विचारोंमें पूर्ण सामंजस्य है, विरोध कुछ भी नहीं। सांसारिक दृष्टिसे आप सफल व्यापारी—सुखी गृहस्थ हैं। व्यापारमें सफल वही होता है जो प्रत्येक वस्तुको अपने लाभकी दृष्टिसे देखता है। अर्थात् जो कुछ बाहर है उसे वह अपने भीतर कर लेनेकी इच्छा रखता है—चेष्टा करता है। यदि वह यही प्रयत्न ईमानदारीसे करता रहे, और उसका पूर्वकर्म इस कार्यमें सहायक हो, तो निश्चय ही वह बाहर-भीतर एक हो जायगा। कार्नेजी, राकफेलर, फोर्ड आदि सफल पाश्चात्य व्यापारियों और व्यवसायियोंके जीवनमें भी हम देखते हैं कि धनोपार्जनमें उन्होंने ज्यों-ज्यों और जिस मात्रामें सफलता प्राप्त की त्यों-त्यों और उसी मात्रामें उनका जीवनौघ लोककल्याणकी ओर मुड़ता गया। पर यह उससे और आगे बढ़कर बाहर-भीतरको एक न कर सका, द्वैतमें अद्वैत न देख सका, जड़-चेतनका रहस्य समझ न सका, जीवात्माको परमात्मामें—बिन्दुको सागरमें मिला न सका। केवल लोककल्याण तक ही जाकर वह रुक गया। यह उनके पूर्वसंस्कारका फल है। श्रीकृष्णने कहा है कि अनेक जन्मोंके यत्नके बाद अद्वैत-ज्ञान प्राप्त होता है। उनमें भी यह बात सत्य

होगी और कालान्तरमें पश्चिममें भी यही आत्माएँ अद्वैतका अनुभव करेंगी।

यहाँ कुछ विषयान्तर हो गया। मैं जो कहना चाहता था वह यह है कि सफल व्यापारी-जीवनसे ही राजा बल्देवदास बिरलामें न केवल लोक-कल्याणकी भावना ही जागरित हुई प्रत्युत वह उससे और आगे बढ़कर बाहर-भीतर एक देखने लग गयी। यह दृष्टि आपको प्राचीन ग्रन्थों और दर्शनोंके अध्ययनसे प्राप्त नहीं हुई वरंच अपने सांसारिक जीवनसे प्राप्त हुई है। अनन्तर पण्डितोंके सहवाससे आपको आर्ष ग्रन्थोंका परिचय मिलने लगा और उसका अर्थ वे अपने जीवनके अनुभवसे लगाने लगे, कोष और व्याकरणसे नहीं। स्वभावतः यह अर्थ पण्डितोंको विचित्र-सा लगने लगा। इस विचित्रतामें ही राजा बल्देवदासका जीवन-सर्वस्व है—स्वानुभूतिका सार है। अपनी पुस्तकोंके द्वारा यह सार-जीवन आपने जिज्ञासुओंको पिलानेका यत्न किया है। इसमें नवीनता है और विचित्रता भी है पर इसका मर्म कुछ-कुछ वही समझ सकता है जिसने आपके बगीचेमें आपके सम्मुख बैठकर आपहीके मुँहसे भिन्न-भिन्न शब्दों और द्वन्द्ववाचक शब्दोंके नवीन पर आश्चर्य-जनक अर्थ सुने होंगे। उस समयकी आपकी तन्मयता भूले नहीं भुलाती।

जो बात अनुभूतिकी है वह केवल बुद्धिद्वारा समझी नहीं जा सकती—जानी जा सकती है। पारदर्शी ज्ञानियोंके लिए जो बात हस्तामलकवत् स्पष्ट है, ग्रन्थपाठी शिक्षार्थीके लिए वही जानना अत्यन्त कठिन हो जाता है। राजा बल्देवदास बिरलाके वेद और वेदान्त विषयक विचार ऐसे ही हैं। वे जाने जा सकते

हैं, और जाननेका प्रयत्न प्रत्येक विचारशीलको करना चाहिये। यह ज्ञान जिसमें सर्वसाधारणका हो—साधारण शिक्षित जनता इसे समझ जाय, इसी सदुद्देश्यसे पूर्वोक्त दो पुस्तकें और यह तीसरी लिखी गयी हैं। आत्मा और परमात्मा, जीव और पुरुष, वेद और वेदान्त इन्हें अभिनव प्रकारसे इनमें समझाया गया है। इन विचारोंका सारांश यह है—

आत्मा एक अदृश्य और व्यापक है। सृष्टिके लिए वह व्यक्त होता है, दीखता है। सृष्टिको ही शास्त्रोंमें 'पर' कहा है, अतः 'पर'का जो आत्मा है उसे 'परमात्मा' कहते हैं। इसीको अंग्रेजीमें 'युनिवर्सल सोल' (Universal Soul) कहते हैं। शरीर-विशेषकी आत्माको केवल 'आत्मा' कहते है। अन्यत्र आपने यह भी कहा है कि बाहर जो कुछ है, दीखता है अथवा जिसका अनुभव होता है वह 'ब्रह्म' है। यही शास्त्रने भी कहा है— सर्वं वेदाखिलम्ब्रह्म। शरीररूपी पुरीमें रहनेके कारण आत्माको 'पुरुष' भी कहते हैं। अनेक शरीरोंमें विभक्त होकर वह अनेक भावोंमें दीखता है इसलिए वही अनेक भी कहलाता है। यहाँपर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि 'भाव'से मतलब इन्द्रिय-शरीरका है। उसीसे कर्म होता है, वही भोगता और वही मरता है। वह भोगता है और नये भोगकी उत्पत्ति करता है। इसी भोगका नाम 'स्वर्ग' है। इस प्रकार एक ही आत्मा भाव-शरीरसे भोगता है, स्व-रूपसे उसे देखता है और अव्यक्त रूपसे उसका फल देता है, अतएव वह ईश्वर (प्रभु, मालिक) और परमेश्वर भी है।

ब्रह्म और आत्माका ज्ञान ही वेद है। वेद बाहर भी है और अपने भीतर भी। हम उसका ग्रहण कान और आँखसे करते हैं।

यही नाम-रूपमयी सृष्टि है। जब हम कानसे उसको अपने भीतर लेते हैं तो उसको रूप देते हैं और जब मुखसे दूसरोंपर व्यक्त करते हैं तब उसे नाम देते हैं। हमारा वेद हमारे भीतर है। प्रत्येक मनुष्यका वेद उसके भीतर है। और वही बाहर सर्वत्र व्याप्त है। जो हमारे भीतर है वह वेद है और जो बाहर है वह ज्ञान है, क्योंकि हम उसे जानते हैं। हमारा ज्ञान हमारा वेद है; बाहर परमात्मा है, भीतर आत्मा। शरीरमें स्थित वेदके तीन प्रकार हैं। अन्तरेन्द्रियकी तीन वृत्तियों और तीन कालके कारण ये तीन भेद होते हैं। जैसे चित्तमें भूतकालका ज्ञान, जो शरीरका कारण होता है। मनमें भूतके ज्ञानके साथ भविष्यका भी ज्ञान होता है; वर्तमानके भावमें वर्तमान कालका ज्ञान। ये ही तीन ज्ञान जन्म लेनेके, जीवित रहनेके और भावी शरीरकी उत्पत्तिके कारण हैं। था, है और होगा— इन तीनोंका समन्वय शरीरमें होता है और तीनोंका ज्ञान समष्टि-रूपसे वेद है। इसीलिए वेदको त्रयी भी कहा है। यही त्रयी कर्म, विषय और भोगसे सम्बन्ध रखती है, इसलिए भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—'त्रैगुण्यविषयाः वेदाः' और 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'। वेदका यही अर्थ 'अष्टादशश्लोकी वेदगीता' द्वारा समझाया गया है। इसमें नवीनत्व है और नहीं भी है। जिस ढंगसे यह समझाया गया है वह नवीन है; मूलतत्त्व वा ज्ञान अनादि है। जो कुछ बताया गया है वह शास्त्रानुमत और प्रमाणसिद्ध है। नये ढंगसे कही हुई पुरानी बात भी नयी लगती है, केवल इसीलिए उसकी उपेक्षा न करनी चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीतामें वेदस्पृष्ट १८ श्लोक हैं। इनपर की गयी भावार्थबोधिनी टीकाके सहारे यदि

सुज्ञ पाठक मनन करेंगे तो यह विश्वास किया जा सकता है कि वे राजा साहबके परिश्रम और मननको सार्थक कर सकेंगे।

चतुर्दश माहेश्वर सूत्रोंकी काशिकावृत्ति इस पुस्तककी विशेषता है। कौमुदीका पठन-पाठन बढ़ जानेसे इस आध्यात्मिक वृत्तिको हमारा पण्डित-समाज भी भूलसा गया है। इस पुस्तकमें इसका उद्धार करके पण्डितवर श्री सभापति उपाध्यायने एक गुप्तकोप जनताके सामने खोल दिया है। भारतीय संस्कृतिके पुनरुद्धारमें आपका यह प्रयत्न मान्य स्थान पाने योग्य है। इसपर श्री बिरलाजीकी व्याख्या चमत्कृतिपूर्ण और तत्त्वदर्शिनी है। नृत्तावसान अर्थात् नृत्यकी समाप्तिका अर्थ आपने पूर्वशरीरके अर्थकी समाप्तिका फल कहा है। महाकालका नृत्य तो जन्ममरणरूप संसार ही हो सकता है। अतः उसकी समाप्ति पूर्वकर्मकी समाप्ति ही समझी जा सकती है। इस अवसरपर उत्पन्न हुए वर्णमय सूत्रोंका अर्थभी उसी प्रकारका हो सकता है, जो एक कोष्ठकद्वारा (पृष्ठ ७६-७७) समझाया गया है। मैं चाहता था कि यह अधिक विस्तारके साथ समझाया जाता। पर मेरी बीमारी तथा असमर्थताके कारण पुस्तक प्रकाशनमें बहुत अधिक विलम्ब हो गया, जिसका मुझे अत्यन्त दुःख है। और विलम्ब करके राजा साहबके परिश्रम और उत्साहको व्यर्थ करना सर्वथा अनुचित होगा। इस अभावके लिए पाठकोंसे क्षमा माँगकर यह कथन यहीं समाप्त किया जाता है।

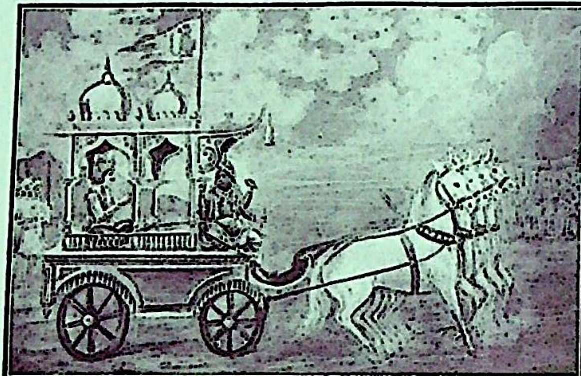
अन्तमें प्रार्थना यही है कि जिसके हाथमें यह पुस्तक पड़े वे

इसका मनन करें तथा इसमें जो विचार प्रकट किये गये हैं वे औरोंके सामने रखनेकी कृपा भी करें।

काशी
९ वृष, सं० १९९८ वि० } बा० वि० पराड़कर

विचार्य्य सम्यक् सुचिरं स्वशास्त्रं
विद्वद्वरेभ्यो यदबोधि तत्त्वम्।
तस्य प्रचाराय बुधां हिताय
व्यकाशि राज्ञा बिरलाभिधेन॥

श्रीकृष्णपरमात्मने नमः



ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ न्यासः

ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान्वेदव्यासऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । श्रीकृष्णः परमात्मा देवता । अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे इति बीजम् । सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज इति शक्तिः । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच इति कीलकम् । नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इत्यङ्गुष्ठाभ्यां नमः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति तर्जनीभ्यां नमः । अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च इति मध्यमाभ्यां नमः । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इत्यनामिकाभ्यां नमः । पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः । नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः इति करन्यासः ॥ अथ हृदयादिन्यासः । नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इति हृदयाय नमः ॥ न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति शिरसे स्वाहा । अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च इति शिखायै

वषट्। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इति कव-
चाय हुम्। पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति
नेत्रत्रयाय वौषट्। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि
च इति अस्त्राय फट्॥ श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे पाठे विनियोगः।

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारते॥
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मंब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवेद्वेषिणीम्॥ १॥

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
यन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः॥२॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥ ३॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥ ४॥

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्त्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः॥ ५॥

पाराशर्यवचःसरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेसरं हरिकथा संबोधनाबोधितम्।

लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा
भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥ ६ ॥

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ ७ ॥

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥ १ ॥

गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ॥ २ ॥

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ ३ ॥

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ ४ ॥

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् ।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ५ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ६ ॥

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥७॥

अथ ध्यानम्

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः
स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदै-
र्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा
पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा
देवाय तस्मै नमः ॥

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥४१॥

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो
नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतःपरम् ॥१२॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति ॥१७॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥
एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरां जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥
ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ठा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेप वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिपैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो
नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥
किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यास-योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते । २ ।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥
श्रीभगवानुवाच
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥
ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो-
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥२७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥
कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो
नामाष्टमोऽध्यायः ॥

अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥२५॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥

अथ दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

म ४

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥
रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥४१॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥

अथैकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।

एवं रूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥५२॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥५५॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शन-
योगो नामैकादशोऽध्यायः ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥
महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥
निर्मानमोहा, जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंप-
द्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥
आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥
आदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥
ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥
पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥
धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥
इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥



अथ शुक्लयजुर्वेदीय

रुद्राष्टाध्यायी प्रारम्भः ।

श्रीगणेशाय नमः ॥ आचम्य प्राणानायम्य । देश-कालौ संकीर्त्य च । संकल्पः । अद्य पूर्वोच्चारितैवंगुण-विशेषणविशिष्टायां शुभपुण्यतिथौ ममाऽऽत्मनः श्रुति-स्मृतिपुराणोक्तफलप्राप्त्यर्थं धर्मार्थकाममोक्षसिद्धिद्वारा सर्व-व्याधिनिरासपूर्वकं सर्वाभीष्टसिद्ध्यर्थं श्रीभवानीशङ्कर-देवताप्रीत्यर्थं च रुद्रैकादशिन्या सकृदावर्तनेन वा अमुक-द्रव्येण रुद्राभिषेकमहं करिष्ये । तदङ्गतया विहितान् शरीरशुद्ध्यर्थं लघुषडङ्गन्यासाँश्च करिष्ये । मनोजूतिरिति मन्त्रस्य बृहस्पतिर्ऋषिः बृहतीछन्दः बृहस्पतिर्देवता हृदयन्यासे जपे विनियोगः । ॐ मनोजूतिर्जुषतामाज्ज्यं स्यबृहस्प्पतिर्य्यज्ञमिमन्तनोत्वरिष्टंय्यज्ञꣳसमिमन्दधातु ॥

व्विश्वे देवासऽइहमादयन्तामो ३ म्प्रतिष्ठ ॥ ॐ हृदया-यनमः ॥ १ ॥ अवोद्धचग्निरितिमन्त्रस्य बुधगविष्ठिरावृषी त्रिष्टुप् छन्दः अग्निर्देवता शिरोन्यासे जपे विनियोगः ॥ ॐ अवोद्ध्यग्नि?सुमिधाजनानाम्प्रतिधेनुमिवायतीमुपासम्। यह्वाऽइवप्रवयामुज्जिहानाऽप्रभानवः सिस्रतेनाकमच्छ ॥ ॐ शिरसे स्वाहा ॥ २ ॥ मूर्द्धानमितिमन्त्रस्य भरद्वाज ऋषिः त्रिष्टुप् छन्दः अग्निर्देवता शिखान्यासे जपे विनि-योगः ॥ ॐ मूर्द्धानन्दिवोऽअरतिम्पृथिव्याव्वैश्वानरमृतऽ आजातमग्निम् ॥ कविष्ठसम्राजमतिथिञ्जनानामासन्नापात्रञ्जनयन्तदेवा? ॥ ॐ शिखायै वषट् ॥ ३ ॥ मर्म्माणित इति मन्त्रस्य अप्रतिरथऋषिः विराट् छन्दः मर्म्माणि देवता कवचन्यासे जपे विनियोगः ॥ ॐ मर्म्माणितेव्वर्म्मणा च्छादयामिसोमस्त्वाराजामृतेनानुवस्ताम् ॥ उरोर्व्वरीयोव्वरुणस्तेकृणोतुजयन्तन्त्वानुदेवामदन्तु ॥ ॐ कवचाय हुम् ॥ ४ ॥ विश्वतश्चक्षुरितिमन्त्रस्य विश्वकर्मा भौवनऋषिः त्रिष्टुप् छन्दः विश्वकर्मा देवता नेत्रन्यासे जपे विनियोगः ॥ ॐ व्विश्वतश्चक्षुरुतव्विश्वतोमुखोव्विश्वतोबाहुरुतव्विश्वतस्प्पात् ॥ सम्बाहुभ्यान्धमतिसम्पतत्रैर्द्यावाभूमीजनयन्देवऽएकः ॥ ॐ नेत्रत्रयाय वौषट् ॥ ५ ॥ मानस्तोक इति मन्त्रस्य परमेष्ठी ऋषिः जगती छन्दः एकोरुद्रो देवता

अस्त्रन्यासे जपे विनियोगः ॥ ॐ मानस्तोकेतनयेमान
आयुषिमानोगोषुमानोऽअश्वेषुरीरिषः ॥ मानोव्वीरान्नुद्र
भामिनोवधीर्हविष्मन्तःसदमित्त्वाहवामहे ॥ ॐ अस्त्राय
फट् ॥ ६ ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ हरिः ॐ गुणानान्त्वागुणपतिः
हवामहेप्प्रियाणान्त्वाप्प्रियपतिःहवामहेनिधीनान्त्वानिधिप
तिःहवामहेवसोमम ॥ आहमजानिगर्ब्भधमात्त्वमजासिग
र्ब्भधम् ॥ १ ॥ गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्पङ्क्त्यासह ॥
बृहत्युष्णिहाककुप्सूचीभिः शम्म्यन्तुत्त्वा ॥ २ ॥ द्विप
दायाश्चतुष्पदास्त्रिपदायाश्चषट्पदाः ॥ विच्छन्दाया
श्चसच्छन्दाःसूचीभिः शम्म्यन्तुत्त्वा ॥ ३ ॥ सहस्तोमाः
सहछन्दसऽआवृतः सहप्रमाऽऋषयःसप्तदैव्याः ॥ पूर्व्वे
षाम्पन्थामनुदृश्श्यधीराऽअन्वालेभिरेरत्थ्योनरश्मीन् ॥४॥
ॐ यज्जाग्ग्रतोदूरमुदैतिदैवन्तदुसुप्तस्यतथैवैति ॥ दूरङ्गम
ञ्ज्योतिषाञ्ज्योतिरेकन्तन्मेमनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥५॥
येनकर्म्माण्यपसोमनीषिणोयज्ञेकृण्वन्तिविदथेषुधीराः ॥
यदपूर्व्वंय्यक्षमन्तः प्रजानान्तन्मेमनः शिवसङ्कल्पमस्तु
॥ ६ ॥ यत्प्रज्ञानमुतचेतोधृतिश्चयज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्र
जासु ॥ यस्मान्नऽऋतेकिञ्चनकर्म्मक्रियतेतन्मेमनः शिव
सङ्कल्पमस्तु ॥ ७ ॥ येनेदम्भूतम्भुवनम्भविष्यत्परिगृहीत

तमुमृतेनुसर्वम् ॥ येनयुज्ञस्तायतेसुप्तहोतातन्मेमनः शिव
सङ्कल्पमस्तु ॥ ८ ॥ यस्मिन्नृच ँसामयजू ँषियस्मिन्प्र
तिष्ठितारथनाभाविवारा? ॥ यस्मिँश्चित्त ँसर्वमोतम्प्रजाना
न्तन्मेमनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ९ ॥ सुषारथिरश्वानि
वयन्मनुष्यान्नेनीयतेभीशुभिर्वाजिनऽइव ॥ हृत्प्रतिष्ठंयदजि
देजिरञ्जविष्ठन्तन्मेमनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ १० ॥ इति
रुद्रे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

हरिः ॐ ॥ सहस्रशीर्षापुरुष ँसहस्राक्ष?सहस्रपात् ॥
सभूमि ँसर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥ पुरुषऽएवे
द ँसर्वंयद्भूतंयच्च भाव्यम् ॥ उतामृतत्वस्येशानोयदन्ने
नातिरोहति ॥ २ ॥ एतावा नस्यमहिमातोज्ज्यायाँश्च
पूरुष ँ॥ पादोस्यविश्वाभूतानित्रिपादस्या मृतन्दिवि ॥ ३ ॥
त्रिपादूर्ध्वऽउदैत्पुरुष ँपादोस्येहाभवत्पुनः ॥ ततोविष्व
ङ्व्यक्रामत्साशनानशनेऽअभि ॥ ४ ॥ ततोविराडजायतवि
राजोऽअधिपूरुष ँ॥ सजातोऽअत्यरिच्च्यतपश्चाद्भूमिमथो
पुर? ॥ ५ ॥ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ँसम्भृतम्पृषदाज्ज्यम् ॥
पशूँस्ताँश्चक्रेवायव्यानारण्याग्राम्म्याश्चये ॥ ६ ॥ तस्माद्
यज्ञात्सर्वहुतऽऋच ँसामानिजज्ञिरे ॥ छन्दा ँसिजज्ञिरेत
स्म्माद्यजुस्तस्म्मादजायत ॥ ७ ॥ तस्म्मादश्वाऽअजाय
न्तयेकेचोभयादत ँ॥ गावोहजज्ञिरेतस्मात्तस्माज्जाताऽअ

जावयं ॥ ८ ॥ तंय्यज्ञम्बर्हिषिप्प्रौक्षन्पुरुषञ्जातमग्ग्रत? ॥
तेनदेवाऽअयजन्तसाध्याऽऋषयश्चये ॥ ९ ॥ यत्पुरुषंव्य
दधुः कतिधाव्यकल्पयन् ॥ मुखङ्किमस्यासीत्किम्बाहूकि
मूरूपादाऽउच्यते ॥१०॥ ब्राह्मणोस्यमुखमासीद्बाहूराज
न्न्य? कृत? ॥ ऊरूतदस्ययद्वैश्य? पद्भ्याᳬशूद्रोऽअजायत
॥११॥ चन्द्रमामनसोजातश्चक्षोःसूर्य्योऽअजायत ॥
श्श्रोत्राद्वायुश्चप्प्राणश्चमुखादग्निरजायत ॥१२॥ नाभ्याऽ
आसीदन्तरिक्षᳬशीर्ष्णोद्यौ? समवर्त्तत ॥ पद्भ्याम्भूमिर्दि
शःश्श्रोत्रात्तथालोका ँ॥ ऽअकल्पयन् ॥१३॥ यत्पुरुषेण
हविषादेवायज्ञमतन्वत ॥ वसन्तोऽस्यासीदाज्ज्यंग्ग्रीष्मऽ
इध्म?शरद्धवि? ॥१४॥ सप्तास्यासन्परिधयस्त्रि?सप्तसमि
ध? कृता? ॥ देवायद्यज्ञन्तन्वानाऽअबध्नन्पुरुषंपशुम्
॥१५॥ यज्ञेनयज्ञमयजन्तदेवास्तानिधर्म्माणिप्प्रथमान्या
सन् ॥ तेहनाकम्म हिमान? सचन्तयत्रपूर्वेसाध्या?सन्ति
देवा? ॥१६॥ अद्भ्य?सम्भृतः पृथिव्यैरसाच्चविश्वकर्म्म
णःसमवर्त्तताग्ग्रे ॥ तस्यत्वष्टाविदधद्रूप मेतितन्मर्त्यस्यदे
वत्वमाजानमग्ग्रे ॥१७॥ वेदाहमेतम्पुरुषम्महान्तमादित्य
वर्णन्तमसःपरस्तात् ॥ तमेवविदित्वातिमृत्युमेतिनान्य?
पन्थाविद्यतेयनाय ॥१८॥ प्रजापतिश्चरतिगर्भेऽअन्तरजा
यमानोवहुधाविजायते ॥ तस्ययोनिम्परिपश्यन्तिधीरास्त

सिन्ह तस्थुर्ब्भुवनानिविश्श्वा ॥१९॥ योदेवेब्भ्यऽआतप
तियोदेवानाम्पुरोहितः ॥ पूर्व्वोयोदेवेब्भ्योजातोनमोरुचा
यब्राह्मये ॥२०॥ रुचम्ब्राह्मञ्जनयन्तोदेवाऽअग्रेतदब्रुवन् ॥
यस्त्वैवम्ब्राह्मणोविद्यात्तस्य देवाऽअसन्वशे ॥२१॥ श्री
श्चतेलक्ष्मीश्चपत्न्यावहोरात्रेपार्श्वेन क्षत्राणिरूपमश्विनौ
ठ्यात्तम् ॥ इष्णन्निषाणामुम्मऽइषाणसर्वलोकम्मऽइषाण
॥२२॥ इति रुद्रे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

हरिः ॐ ॥ आशुःशिशानोवृषभोनभीमोघनाघनः
क्षोभणश्चर्षणीनाम् ॥ सङ्क्रन्दनोनिमिषऽएकवीरःशतꣳसेनाऽ
अजयत्साकमिन्द्रः ॥ १ ॥ सङ्क्रन्दनेनानिमिषेणजिष्णु
नायुत्कारेणदुश्च्यवनेनधृष्णुना ॥ तदिन्द्रेणजयततत्सहद्ध्वंयु
धोनरऽइषुहस्तेनवृष्णा ॥ २ ॥ सऽइषुहस्तैःसनिषङ्गिभि
र्वशीसꣳस्रष्टासयुधऽइन्द्रोगणेन ॥ सꣳसृष्टजित्सोमपाबाहु
शर्ध्युग्रधन्वाप्रतिहिताभिरस्ता ॥ ३ ॥ बृहस्पतेपरिदीया
रथेनरक्षोहामित्राँ२ऽ॥ ऽअपबाधमानः ॥ प्रभञ्जन्त्सेनाः
प्रमृणोयुधाजयन्नस्माकमेद्ध्यवितारथानाम् ॥ ४ ॥ बल
विज्ञाय स्थविरःप्रवीरःसहस्वान्वाजीसहमानऽउग्रः ॥
अभिवीरोऽअभिसत्वासहोजाजैत्रमिन्द्ररथमातिष्ठगोवित् ॥५॥
गोत्रभिदङ्गोविदंवज्रबाहुञ्जयन्तमज्ज्मप्रमृणन्तमोजसा ॥
इमꣳसजाताऽअनुवीरयद्ध्वमिन्द्रꣳसखायोऽअनुसꣳरभद्ध्वम्

॥ ६ ॥ अभिगोत्त्राणि सहसागाहमानोदयोवीर?शतमन्यु
रिन्द्रः ॥ दुश्च्यवन?पृतनाषाड युद्ध्योस्म्माकꣳसेनाऽ
अवतुप्प्रयुत्सु ॥ ७ ॥ इन्द्रऽआसान्नेताबृहस्प्पतिर्द्दक्षिणा
यज्ञ?पुरऽएतुसोमः ॥ देवसेनानामभिभञ्जतीनाञ्जयन्ती
नाम्मरुतोयन्त्वग्ग्रम् ॥ ८ ॥ इन्द्रस्यवृष्ण्णोवरुणस्यराज्ञऽ
आदित्यानाम्मरुताꣳशर्द्धऽउग्ग्रम् ॥ महामनसाम्भुवन
च्च्यवानाङ्घोषोदेवानाञ्जयतामुदस्त्थात् ॥ ९ ॥ उद्धर्षयम
घवन्नायुधान्युत्सत्त्वनाम्मामकानाम्मनाꣳसि ॥ उद्वृत्रहन्वा
जिनांवाजिनान्युद्रथानाञ्जयतांय्यन्तुघोषाः ॥१०॥ अस्मा
कमिन्द्रःसमृतेषुद्ध्वजेष्ष्वस्माकंय्याऽइषवस्ताजयन्तु ॥ अस्मा
कंव्वीराऽउत्तरेभवन्त्वस्मा ँ॥ऽ उदेवाऽअवताहवेषु ॥११॥
अमीषाञ्चित्तम्प्रतिलोभयन्तीगृहाणाङ्गान्यप्प्वेपरेहि ॥ अभि
प्रेहिनिर्द्दहहृत्सुशोकैरन्धेनामित्त्रास्तमसासचन्ताम् ॥१२॥
अवसृष्टापरापतशरव्व्ये ब्रह्मसꣳशिते ॥ गच्छामित्त्रान्प्रपद्य
स्वमामीषाङ्कञ्चनोच्छिषः ॥१३॥ प्रेताजयतानरऽइन्द्रोवः
शर्म्मयच्छतु ॥ उग्ग्रावःसन्तुबाहवोनाधृष्ष्यायथासथ
॥१४॥ असौयासेना मरुतःपरेषामब्भ्यैतिनऽओजसास्प्प
र्द्धमाना ॥ ताङ्गूहततमसापव्रतेनयथामीऽअन्न्योऽअन्न्यन्न
जानन् ॥१५॥ यत्रबाणा?सम्पतन्तिकुमाराविशिखाऽइव ॥
तन्नऽइन्द्रोबृहस्प्पतिरदितिः शर्म्मयच्छतुविश्वाहाशर्म्मय

च्छतु ॥१६॥ मर्म्मीणितेवर्म्मणाच्छादयामिसोमस्त्वाराजा मृतेनानुवस्ताम् ॥ उरोर्वरीयोवरुणस्तेकृणोतुजयन्तन्त्वानुदे वामदन्तु ॥१७॥ इति रुद्रे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

हरिः ॐ॥ विभ्राड्बृहत्पिबतुसोम्म्यम्मध्वायुर्दधद्यज्ञ पतावविह्नुतम् ॥ वातजूतोयोऽअभिरक्षतित्मनाप्रजाः पुपोषपुरुधाविराजति ॥ १ ॥ उदुत्त्यञ्जातवेदसन्देवंवहन्ति केतवः ॥ दृशेविश्वायसूर्य्यम् ॥ २ ॥ येनापावकचक्षसा भुरण्यन्तञ्जनाँऽअनु ॥ त्वंवरुणपश्यसि ॥ ३ ॥ दैव्यावद्ध्वर्य्यूऽआगतꣳरथेनसूर्य्यत्वचा ॥ मद्ध्वायज्ञꣳसमञ्जाथे ॥ ([1]तम्प्रत्नथाऽयंवेनश्चित्रन्देवानाम् ॥ ४ ॥) तम्प्रत्नथा पूर्वथाविश्वथेमथाज्ज्येष्ठतातिम्बर्हिषदꣳस्वर्विदम् ॥ प्रतीचीनंवृजनन्दोहसेधुनिमाशुञ्जयन्तमनुयासुवर्द्धसे ॥ ५ ॥ अयंवेनश्चोदयत्पृश्निगर्भाज्ज्योतिर्जरायूरजसोविमाने ॥ इममपाꣳसङ्गमेसूर्य्यस्य शिशुन्नविप्रामतिभीरिहन्ति ॥ ६ ॥ चित्रन्देवानामुदगादनीकञ्चक्षुर्म्मित्रस्यवरुणस्याग्नेः ॥ आप्राद्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳसूर्य्यऽआत्माजगतस्तस्थुषश्च ॥ ७ ॥ आनऽइडाभिर्विदथे सुशस्तिविश्वानरꣳसवितादेवऽएतु ॥ अपियथायुवानोमत्सथानोविश्वञ्जगदभिपित्वेमनीषा ॥ ८ ॥ यदद्द्यकच्च

[1] इयं पङ्क्तिः पूर्वोक्तमन्त्रप्रतीकरूपा ननु मन्त्ररूपा.

वृत्रहन्नुदगाऽअभिसूर्य्य ॥ सर्वन्तदिन्द्रतेवशे ॥ ९ ॥
तरणिर्विंश्वदर्शतोज्योतिष्कृदसिसूर्य्य ॥ विश्वमा भासिरो
चनम् ॥ १० ॥ तत्सूर्य्यस्यदेवत्वन्तन्महित्वम्मध्याकर्त्तो
र्वितंतसञ्जभार ॥ यदेदयुक्तहरितः सधस्थादाद्रात्रीवा
सस्तनुतेसिमस्मै ॥ ११ ॥ तन्मित्रस्यवरुणस्याभि
चक्षेसूर्य्योरूपङ्कृणुतेद्योरुपस्थे ॥ अनन्तमन्यद्रुशदस्य
पाजः कृष्णमन्यद्धरितःसम्भरन्ति ॥ १२ ॥ वण्महा
२ँ॥ऽअसिसूर्य्यबडादित्यमहा २ँ॥ऽऽअसि ॥ महस्तेसतो
महिमापनस्यतेद्धादेवमहा २ँ॥ऽअसि ॥ १३ ॥ वट्सूर्य्य
श्रवसामहा २ँ॥ऽअसिसत्रादेवमहा २ँ॥ऽअसि ॥ मह्ना
देवानामसुर्य्यः पुरोहितोविभुज्योतिरदाभ्यम् ॥ १४ ॥
श्रायन्तऽइवसूर्य्यंविश्वेदिन्द्रस्यभक्षत ॥ वसूनिजातेजन
मानऽओजसाप्रतिभागन्नदीधिम ॥ १५ ॥ अद्यादे
वाऽउदितासूर्य्यस्यनिरंहसःपिपृतानिरवद्यात् ॥ तन्नो
मित्रोवरुणो मामहन्तामदितिःसिन्धुः पृथिवीऽउतद्यौः
॥१६॥ आकृष्णेनरजसावर्त्तमानोनिवेशयन्नमृतम्मर्त्त्यञ्च ॥
हिरण्ययेनसवितारथेनादेवो यातिभुवनानिपश्यन् ॥१७॥
इति रुद्रे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

हरि ॐ ॥ नमस्तेरुद्रमन्यवऽउतोतऽइषवेनमः ॥
बाहुभ्यामुततेनमः ॥ १ ॥ याते रुद्रशिवातनूरघोरा

पांपकाशिनी ॥ तयानस्तन्न्वा शन्तमयागिरिशन्ताभिचाक शीहि ॥ २ ॥ यामिषुङ्गिरिशन्तहस्ते बिभर्ष्यस्तवे ॥ शिवाङ्गिरित्रताङ्कुरुमाहिंᳫसीᳬपुरुषञ्जगत् ॥ ३ ॥ शिवेन वचसात्वागिरिशाच्छावदामसि ॥ यथानᳬसर्वमिज्जगदयु क्ष्मᳫसुमनाऽअसत् ॥ ४ ॥ अध्यवोचदधिवक्ताप्प्रथमो दैव्व्योभिषक् ॥ अहींश्चसर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्चयातुधा न्न्योधराचीᳬपरासुव ॥ ५ ॥ असौयस्ताम्म्रोऽअरुणऽउत बब्भ्रुःसुमङ्गलः ॥ येचैनᳫरुद्राऽअभितोदिक्षुश्श्रिताः सहस्रशोवैषाᳫहेडऽईमहे ॥ ६ ॥ असौयोवसर्प्पतिनील ग्ग्रीवोविलोहितᳬ ॥ उतैनङ्गोपाऽअदृश्श्रन्नदृश्श्रन्नुदहा र्य्यᳬसदृष्टोमृडयातिनᳬ ॥ ७ ॥ नमोस्तुनीलग्ग्रीवाय सहस्राक्षायमीढुषे ॥ अथोयेऽअस्यसत्वानोहन्तेभ्योकर न्नमः ॥ ८ ॥ प्रमुञ्चधन्न्वनस्त्व मुभयोरार्त्त्न्योर्ज्ज्याम् ॥ याश्चतेहस्तऽइषवᳬपरातांभगवोवप ॥ ९ ॥ विज्ज्यन्धनुः कपर्दिनोविशल्ल्योवाणवाँ॥ऽउत ॥ अनेशन्नस्ययाऽइष वऽआभुरस्यनिषङ्गधिः ॥ १० ॥ याते । हेतिम्मीढुष्टम हस्तेवभूवतेधनुः ॥ तयास्म्मान्विश्श्वतस्त्वमयक्ष्मयापरि भुज ॥११॥ परितेधन्न्वनोहेतिरस्मान्न्वृणक्तुविश्श्वतः ॥ अथोयऽइषुधिस्तवारेऽअस्म्मन्निधेहितम् ॥१२॥ अवतत्य धनुष्ट्वᳫसहस्राक्षशतेषुधे ॥ निशीर्य्य शल्ल्यानाम्मुखा

शिवोनं÷सुमनाभव ॥ १३ ॥ नमस्तुऽआयुधायाना
ततायधृष्णवे ॥ उभाब्भ्यामुततेनमोबाहुब्भ्यान्तवधन्वने
॥ १४ ॥ मानोमहान्तमुतमानोऽअब्र्भकम्मानुऽउक्षन्त
मुतमानऽउक्षितम् ॥ मानोवधीᳬपितरम्मोतमातरम्मानं÷
प्प्रियास्तन्वोरुद्ररीरिषᳬ ॥ १५ ॥ मानस्तोके । तनये
मानऽआयुषिमानोगोषुमानोऽअश्वेषुरीरिषᳬ ॥ मानोवीरा
न्रुद्रभामिनोवधीर्हविष्म्मन्तᳬसदमित्त्वाहवामहे ॥ १६ ॥
नमोहिरण्णयवाहवे । सेनान्येदिशाञ्चपतयेनमोनमोवृक्षेब्भ्यो
हरिकेशेब्भ्यᳬ पशूनाम्पतयेनमोनम÷शष्पिञ्जरायत्त्विषी
मतेपथीनाम्पतयेनमोनमोहरिकेशायोपवीतिनेपुष्टानाम्पतये
नमोनमोबब्भ्लुशाय ॥१७॥ नमोबब्भ्लुशाय । व्याधिने
न्नानाम्पतयेनमोनमोभवस्यहेत्त्यैजगताम्पतयेनमोनमोरुद्रा
याततायिनेक्षेत्राणाम्पतयेनमोनम÷ सूतायाहन्त्यैवनाना
म्पतयेनमोनमोरोहिताय ॥१८॥ नमोरोहिताय । स्थपतये
वृक्षाणाम्पतयेनमोनमोभुवन्तयेवारिवस्कृतायौषधीनाम्पतये
नमोनमो मन्त्रिणेवाणिजायकक्षाणाम्पतयेनमोनम ऽउच्चै
र्घोषायाक्क्रन्दयतेपत्तीनाम्पतयेनमोनम÷कृत्स्नायतया
॥ १९ ॥ नम÷कृत्स्नायतया । धावतेसत्त्वनाम्पतयेनमो
नमᳬसहमानायनिव्याधिनऽ आव्याधिनीनाम्पतयेनमो
नमोनिषङ्गिणेककुभायस्तेनानाम्पतयेनमोनमोनिचेरवेपरि

चुरायारण्यानाम्पतयेनमोनमोवञ्चते ॥२०॥ नमोवञ्चते ।
परिवञ्चतेस्तायूनाम्पतयेनमोनमोनिषङ्गिणं ऽ इषुधिमतेतस्क
राणाम्पतयेनमोनमः सृकायिभ्योजिघांᳬसद्भ्योमुष्णता
म्पतयेनमोनमोसिमद्भ्योनक्तञ्चरद्भ्योविकृन्तानाम्पतये
नमः ॥२१॥ नमऽउष्णीषिणे।गिरिचरायकुलुञ्चानाम्पतये
नमोनमः ऽइषुमद्भ्योधन्वायिभ्यश्चवोनमोनमऽआतन्वाने
भ्यः प्रतिदधानेभ्यश्चवोनमोनमऽआयच्छद्भ्योस्यद्भ्य
श्चवोनमोनमोविसृजद्भ्यः ॥२२॥नमोविसृजद्भ्यो। विध्य
द्भ्यश्चवोनमोनमः स्वपद्भ्योजाग्रद्भ्यश्चवोनमोनमᳬशयाने
भ्यऽआसीनेभ्यश्चवोनमोनमस्तिष्ठद्भ्योधावद्भ्यश्चवोनमो
नमः सभाभ्यः ॥२३॥ नमः सभाभ्यः । सभापति
भ्यश्चवोनमोनमोश्वेभ्योश्वपतिभ्यश्चवोनमोनमऽआ
व्याधिनीभ्योविविध्यन्तीभ्यश्चवोनमो नमऽउगणाभ्य
स्तृᳬहतीभ्यश्चवोनमोनमोगणेभ्यः ॥ २४ ॥ नमोग
णेभ्यो । गणपतिभ्यश्चवोनमोनमोव्रातेभ्योव्रातपतिभ्य
श्चवोनमोनमोगृत्सेभ्योगृत्सपतिभ्यश्चवोनमोनमोविरूपे
भ्योविश्वरूपेभ्यश्चवोनमोनमᳬसेनाभ्यᳬ ॥२५॥ नमऽ
सेनाभ्यऽ । सेनानिभ्यश्चवोनमोनमोरथिभ्योऽअरथे
भ्यश्चवोनमो नमः क्षत्तृभ्यः सङ्ग्रहीतृभ्यश्चवोनमोनमो
महद्भ्योऽअर्भकेभ्यश्चवोनमः ॥२६॥ नमस्तक्षभ्यो ।

रथकारेभ्यश्चवोनमोनमः कुलालेभ्यः कुर्म्मारेभ्यश्चवोनमो
नमोनिषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्चवो नमोनमः श्वनिभ्यो
मृगयुभ्यश्चवोनमोनमः श्वभ्यः ॥ २७ ॥ नमः
श्वभ्यः । श्वपतिभ्यश्चवोनमोनमोभवायचरुद्रायचनमः
शर्वायचपशुपतयेचनमोनीलग्रीवायचशितिकण्ठायचनमः कप
र्दिने ॥ २८ ॥ नमः कपर्दिने । चव्युप्तकेशायचनमः
सहस्राक्षायच शतधन्वनेचनमोगिरिशयायचशिपिविष्टाय
चनमो मीढुष्टमायचेषुमतेचनमोह्रस्वाय ॥ २९ ॥ नमो
ह्रस्वाय । चवामनायचनमोबृहतेचवर्षीयसेचनमोवृद्धाय
चसवृधेचनमोग्र्यायच प्रथमायचनमऽआशवे ॥ ३० ॥
नमऽआशवे । चाजिरायचनमः शीघ्र्यायचशीभ्यायच
नमऽऊर्म्यायचावस्वन्यायचनमोनादेयायचद्वीप्यायच
॥ ३१ ॥ नमोज्येष्ठाय । चकनिष्ठायचनमः पूर्वजाय
चापरजायचनमोमध्यमायचापगल्भायचनमोजघन्यायच
बुध्न्यायचनमः सोभ्याय ॥ ३२ ॥ नमः सोभ्याय ।
चप्रतिसर्य्यायचनमोयाम्यायचक्षेम्यायचनमः श्लोक्या
यचावसान्यायचनमऽउर्वर्य्यायचखल्याय चनमोवन्याय
॥३३॥ नमोवन्याय । चकक्ष्यायचनमः श्रवाय चप्र
तिश्रवायचनम ऽआशुषेणायचाशुरथायचनमः शूरायचाव
भेदिनेचनमोविल्मिने ॥ ३४ ॥ नमोविल्मिने । चक

वृचिनेचुनमोवुर्म्मिणेचवरूथिनेचुनमः श्रुतायचश्रुतसेनाय
चुनमो दुन्दुभ्यायचाहनन्यायचुनमोधृष्णवे ॥ ३५ ॥
नमोधृष्णवे । चप्रमृशायचुनमो निषङ्गिणेचेषुधिमतेचु
नमस्तीक्ष्णेषवेचायुधिनेचुनमः स्वायुधायचसुधन्वनेच
॥ ३६ ॥ नमुःस्रुत्याय । चुपथ्यायचुनमुःकाट्याय
चुनीप्यायचुनमुःकुल्यायचसरस्यायचुनमोनादेयायचवै
शन्तायचुनमुःकूप्याय ॥ ३७ ॥ नमुःकूप्याय । चाव
ट्यायचुनमोवीध्र्यायचातप्यायचुनमोमेघ्यायचविद्यु
त्यायचुनमोवर्ष्याय चावर्ष्यायचुनमोवात्याय ॥ ३८ ॥
नमोवात्याय । चुरेष्म्यायचुनमोवास्तव्यायचवास्तुपायचुन
मुःसोमायचरुद्रायचुनमस्ताम्रायचारुणायचुनमः शङ्गवे
॥ ३९ ॥ नमः शङ्गवे । चपशुपतयेचुनमऽउग्रायचभीमाय
चुनमोग्रेवधायचदूरेवधायचुनमोहन्त्रेचहनीयसेचुनमोवृक्षे
भ्योहरिकेशेभ्योनमस्ताराय ॥ ४० ॥ नमः शम्भवाय ।
चमयोभवायचुनमः शङ्करायचमयस्करायचुनमः शिवाय
चशिवतरायच ॥ ४१ ॥ नमुःपार्य्याय । चावार्य्याय
चुनमः प्रतरणायचोत्तरणायचुनमस्तीर्थ्यायचकूल्याय
चुनमुःशष्प्यायचुफेन्यायचुनमः सिकत्याय ॥ ४२ ॥
नमः सिकत्याय । चप्रवाह्यायचुनमः किंशिलायचक्षय
णायचुनमः कपर्दिनेचपुलस्तयेचुनमऽइरिण्यायचप्रपथ्या

यचनमोव्व्रज्ज्याय ॥४३॥ नमोव्व्रज्ज्याय । च गोष्ठ्याय
चनमस्तल्प्प्यायचगेह्यायचनमोहृदय्यायचनिवेष्प्यायचनमꣳ
काट्यायचगह्वरेष्ठायचनमꣳशुष्क्क्याय ॥ ४४ ॥ नमꣳ
शुष्क्याय । चहरित्यायचनमः पाꣳसव्यायचरजस्याय
चनमोलोप्प्याय चोलप्प्यायचनमऽऊर्व्यायचसूर्व्यायचनमः
पर्णाय ॥ ४५ ॥ नमः पर्णाय । चपर्णशदायचनमऽउद्गुर
माणायचाभिघ्नतेचनमऽआखिदतेचप्प्रखिदतेचनमऽइषुकृ
द्भ्योधनुष्कृद्भ्यश्चवोनमोनमोवꣳकिरिकेभ्योदेवानाꣳहृदये
भ्योनमोविचिन्वत्केभ्योनमोविक्षिणत्केभ्योनमऽआनिर्हते
भ्यः ॥ ४६ ॥ द्रापेऽअन्धसस्प्पतेदरिद्रनीललोहित ।
आसाम्प्रजानामेषाम्पशूनाम्माभेर्म्मारोङ्मोचनꣳकिञ्चना
ममत् ॥ ४७ ॥ इमारुद्राय । तवसेकपर्दिनेक्षयद्वीरायप्प्रभ
रामहेमती? ॥ यथाशमसद्द्विपदेचतुष्प्पदेविश्वम्पुष्टङ्ग्रामेऽ
अस्मिन्ननातुरम् ॥४८॥ याते । रुद्रशिवातनू ?शिवाविश्वा
हाभेषजी । शिवारुतस्यभेषजीतयानोमृडजीवसे ॥ ४९ ॥
परिनोरुद्रस्यहेतिर्वृणक्तुपरित्वेषस्यदुर्म्मतिरघायो? ॥ अव
स्थिरामघवद्भ्यस्तनुष्प्वमीढ्वस्तोकायतनयायमृड ॥५०॥
मीढुष्टमशिवतमशिवोनः सुमनाभव ॥ परमेवृक्षऽआयुधन्नि
धायकृत्तिंवसानऽआचरपिनाकम्बिभ्रदागहि ॥ ५१ ॥
विकिरिद्रविलोहितनमस्तेऽअस्तुभगवꣳ । यास्तेसहस्रꣳहेत

योऽन्यमुस्म्मभिवंपन्तुता? ॥ ५२ ॥ सहस्राणिसहस्रशोवा
ह्वोस्तवहेतय-ः॥ तासामीशानोभगव८पराचीनामुखाकृधि
॥ ५३ ॥ असङ्ख्यातासहस्राणि येरुद्राऽअधिभूम्याम् ॥
तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५४ ॥ अस्मि
न्म्महत्त्यर्ण्णवेन्तरिक्षेभवाऽअधि॥तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वा
नितन्मसि ॥ ५५ ॥ नीलग्ग्रीवा८शितिकण्ठादिव८रुद्राऽ
उपश्श्रिता८ ॥ तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि
॥५६॥ नीलग्रीवा८शितिकण्ठा८शर्वाऽअध?क्षमाचरा? ॥
तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५७ ॥ येवृक्षेषु।
शष्प्पञ्जरानीलग्ग्रीवाविलोहिता८ । तेषाᳬंसहस्रयोजनेव
धन्वानितन्मसि ॥ ५८ ॥ येभूतानामधिपतयोविशि
खास-ःकपर्दिन-ः ॥ तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि
॥ ५९ ॥ येपथाम्पथिरक्षयऽऐलवृदाआयुर्य्युध-ःतेषाᳬं
सहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ६० ॥ येतीर्थानि।
प्प्रचरन्तिसृकाहस्तानिषङ्गिण-ः ॥ तेषाᳬंसहस्रयोजने
वधन्वानितन्मसि ॥ ६१ ॥ येन्नेषु । विविद्ध्यन्तिपात्रेषु
पिबतोजनान् ॥ तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि
॥ ६२ ॥ यऽएतावन्तश्चभूयाᳬंसश्चदिशोरुद्रावितस्थिरे ॥
तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ६३ ॥ नमोस्तु ।
रुद्रेभ्योयेदिवियेषांवर्पमिषव८ ॥ तेभ्योदशप्राचीर्दश

दक्षिणादशप्प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्द्ध्वा? ॥ तेब्भ्योनमोऽअ स्तुतेनोवन्तुतेनोमृडयन्तुतेयन्द्विष्म्मोयश्चनोद्वेष्ट्टितमेषाञ्ज म्म्भेदध्मः ॥६४॥ नमोस्तु । रुद्रेब्भ्योयेन्तरिक्षेयेषांवातुऽ इषवः ॥तेब्भ्योदशुप्प्राचीर्दशदक्षिणादशप्प्रतीचीर्दशोदीचीर्द शोर्द्ध्वा? ॥ तेब्भ्योनमोऽअस्तुतेनोवन्तुतेनोमृडयन्तुतेय न्द्विष्म्मोयश्चनोद्वेष्ट्टितमेषाञ्जम्म्भेदध्मः ॥६५॥ नमोस्तु। रुद्रेब्भ्योयेपृथिव्व्यांयेषामन्नमिषवः ॥ तेब्भ्योदशुप्प्राचीर्द शदक्षिणादशप्प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्द्ध्वा? ॥ तेब्भ्योनमोऽ अस्तुतेनोवन्तुतेनोमृडयन्तुतेयन्द्विष्म्मोयश्चनोद्वेष्ट्टितमेषाञ्ज म्म्भेदध्मः ॥ ६६ ॥ इति रुद्रे पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

हरिः ॐ व्वयꣳसोमव्रतेतवमनस्तनूषुबिब्भ्रतः ॥ प्रजावन्तꣳसचेमहि ॥ १ ॥ एषते । रुद्रभाग?सहस्वस्रा म्बिकयातञ्जुषस्वस्वाहैषतेरुद्रभागऽआखुस्तेपशु? ॥ २ ॥ अवरुद्रमदीमह्यवदेवन्त्र्यम्बकम् ॥ यथानोव्वस्यसस्करद्य थानःश्श्रेयसस्करद्यथानोव्यवसाययात् ॥ ३ ॥ भेषज मसि भेषजङ्गवेश्वायपुरुषायभेषजम् । सुखम्मेषायमेष्ष्यै ॥४॥ त्र्यम्बकंय्यजामहेसुगन्धिम्पुष्टिवर्द्धनम् ॥ उर्व्वारुक मिवबन्धनान्मृत्योर्म्मुक्षीयमामृतात् ॥ त्र्यम्बकंय्यजामहे सुगन्धिम्पतिवेदनम् ॥ उर्व्वारुकमिवबन्धनादितोमुक्षीयमा मुतः ॥ ५ ॥ एतत्ते । रुद्रावसन्तेनपरोमूजवतोतीहि ॥

अवंततधन्वाुपिनाकावसुᳪ कृत्तिवासाुऽअहिᳪसन्नᳪ शिवोतीहि ॥ ६ ॥ त्र्यायुुषञ्जुमदग्नेᳪ कुश्यपस्यत्र्यायुषम् ॥ यद्देवेषु त्र्यायुषन्तन्नोऽअस्तुत्र्यायुषम् ॥ ७ ॥ शिवोनामासिस्व धितिस्तेपितानमस्तेऽअस्तुमामाहिᳪसीᳪ ॥ निवर्त्तयाम्म्या युषेन्नाद्द्यायप्प्रुजननायरायस्पोषायसुप्प्रजास्त्वायसुवीर्य्या य ॥८॥ इति रुद्रे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

हरिः— ॐ ॥ उुग्ग्रश्चं । भीमश्चध्वान्तश्चधुनिश्च ॥ सासुह्वाँश्चाभियुग्वाचविक्षिपुᳪस्वाहा ॥ १ ॥ अग्निᳪहृदये नाुशनिᳪहृदयाग्ग्रेणपशुपतिङ्कृत्स्नुहृदयेनभुवंय्युक्ना ॥ शुर्व म्मतस्नाब्भ्युामीशानम्मुन्यनामहादेुवमन्तᳪपर्शुव्येनोुग्ग्र न्देवंवनिष्ठुनावसिष्ठुहनुᳪशिङ्गीनिकोश्याब्भ्याम् ॥ २ ॥ उुग्ग्रँल्लोहितेन । मित्रᳪसौव्रत्येनरुुद्रन्दौव्र्वत्येनेन्द्रम्प्प्रक्क्रीडे नेमुरुतोबलेनसाुद्ध्यान्प्प्रमुदा ॥ भुवस्युकण्ठ्यᳪरुद्रस्यान्तᳪ पाुर्श्वय्यम्महादेुवस्यु यकृच्छुर्वस्य वनिष्ठुः पशुपतेᳪपुरीतत् ॥३॥ लोमब्भ्युᳪस्वाहु। लोमब्भ्युᳪस्वाहात्त्वुचेस्वाहात्त्वुचे स्वाहुालोहितायुस्वाहुालोहितायुस्वाहु मेदोब्भ्युᳪस्वाहुामे दोब्भ्युᳪस्वाहा माᳪᳪसेब्भ्युᳪस्वाहा माᳪᳪसेब्भ्युᳪस्वाहु स्नावब्भ्युᳪस्वाहुास्नावब्भ्युᳪस्वाहुास्त्थब्भ्युᳪस्वाहुास्त्थ ब्भ्युᳪस्वाहामुज्जब्भ्युᳪस्वाहामुज्जब्भ्युᳪस्वाहा ॥ रेतसे स्वाहापायवेस्वाहा ॥ ४ ॥ आयासायुस्वाहा । प्प्रायासायु

स्वाहासंय्युसायुस्वाहांवियुसायुस्वाहोद्द्युसायुस्वाहा ॥ शुचे स्वाहुशोचंतेस्वाहुशोचमानायुस्वाहुशोकायुस्वाहा ॥५॥ तपसेस्वाहा । तप्प्यतेस्वाहुतप्प्यमानायुस्वाहातुप्ताय स्वाहाघुर्म्मायुस्वाहा ॥ निष्कृत्त्यैस्वाहाप्प्रायश्चित्त्यैस्वाहा भेषुजायुस्वाहा ॥ ६ ॥ युमायुस्वाहान्तकायुस्वाहामृत्त्यवे स्वाहा ॥ ब्रह्मणेस्वाहाब्रह्महुत्त्यायैस्वाहाविश्श्वेब्भ्योदेवे ब्भ्युः स्वाहाद्द्यावापृथिवीब्भ्याᳬंस्वाहा ॥ ७ ॥ इति रुद्रे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

हरिः ॐ ॥ वाजश्च । मेप्रसुवश्चमेप्रयतिश्चमेप्रसि तिश्चमेधीतिश्चमेक्क्रतुश्चमेस्वरश्चमेश्लोकश्चमे श्श्रवश्चमे श्श्रुतिश्चमेज्ज्योतिश्चमेस्वश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ १ ॥ प्राणश्च । मेपानश्चमेव्यानश्चमेसुश्चमेचित्तश्चमऽ आधीतश्च मेवाक्चमेमनश्चमेचक्षुश्चमेश्श्रोत्रश्चमेदक्षश्चमेबलश्चमेयज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥ ओजश्च । मेसहश्चमऽआत्माचमेत नूश्चमेशर्म्मचमेवर्म्मचमेङ्गानिचमेस्थानिचमेपरूᳬंषिचमेशरी राणिचमऽआयुश्चमेजराचमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ ३ ॥ ज्यैष्ठ्यंश्च । मऽआधिपत्त्यश्चमेमन्न्युश्चमेभामश्चमेमश्चमेम्भ श्चमेजेमाचमेमहिमाचमेवरिमाचमेप्प्रथिमाचमेवर्षिमाचमेद्द्रा घिमाचमेवृद्धश्चमेवृद्धिश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ ४ ॥ (न०)सुत्त्यश्च । मेश्श्रद्धाचमेजगच्चमेधनश्चमेविश्श्वश्चमेमहश्चमे

क्क्रीडाचमेमोदश्चमेजातश्चमेजनिष्ष्यमाणश्चमेसूक्तश्चमेसु कृतश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ ५ ॥ ऋतञ्च । मेमृतञ्चमेयु क्ष्मञ्चमेनामयञ्चमेजीवातुश्चमेदीर्घायुत्वञ्चमेनमित्रञ्चमेभयञ्चमे सुखञ्चमेशयनञ्चमेसूषाश्चमेसुदिनञ्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम्॥६॥ यन्ताच । मेधर्त्ताचमेक्षेम श्चमेधृतिश्चमेविश्श्वञ्चमेमहश्चमेसं विच्चमेज्ञात्रञ्चमेसूश्चमेप्प्रसूश्चमेसीरञ्चमेलयश्चमेयज्ञेनकल्प न्ताम् ॥ ७ ॥ शञ्चमेमयश्चमेप्रियञ्चमेनुकामश्चमेकामश्चमे सौमनसश्चमेभगश्चमेद्द्रविणञ्चमेभद्रञ्चमेश्श्रेयश्चमेवसीयश्चमे यशश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम्॥८॥(न०)ऊर्क्च । मेसूनृताचमेपय श्चमेरसश्चमे घृतञ्चमेमधुचमेसग्ग्धिश्चमेसपीतिश्चमेकृपिश्चमे वृष्टिश्चमेजैत्रञ्चमऽऔद्भिद्यञ्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ ९ ॥ रयिश्च । मेरायश्चमेपुष्टञ्चमेपुष्टिश्चमेविभुचमेप्प्रभुचमेपूर्ण ञ्चमेपूर्णतरञ्चमेकुयवञ्चमेक्षितञ्चमेन्नञ्चमेक्षुचमेयज्ञेनल्पन्ता म् ॥ १० ॥ वित्तञ्च । मेवेद्यञ्चमेभूतञ्चमेभविष्ष्यच्चमे सुगञ्चमेसुपत्थ्यञ्चमऽऋद्धञ्चमऽऋद्धिश्चमेकॢप्तञ्चमेकॢप्ति श्चमेमतिश्चमेसुमतिश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम्॥११॥व्रीहयश्च । मेयवाश्चमेमाषाश्चमेतिलाश्चमेमुद्गाश्चमेखल्वाश्चमेप्रियङ्गव श्चमेणवश्चमेश्श्यामाकाश्चमेनीवाराश्चमेगोधूमाश्चमेमसूराश्चमेय ज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ १२ ॥(न०) अश्म्माच । मेमृत्तिका चमेगिरयश्चमेपर्वताश्चमेसिकताश्चमेवनस्प्पतयश्चमेहिरण्ण्यञ्चु

मेयँश्चमेश्यामञ्चमेलोहञ्चमेसीसञ्चमेत्रपुचमेयज्ञेनकल्पन्ताम्
॥ १३ ॥ अग्निश्च । मऽआपश्चमेवीरुधश्चमऽओषधयश्चमे
कृष्टपच्याश्चमेकृष्टपच्याश्चमेग्राम्म्याश्चमेपशवऽआरण्ण्या
श्चमेवित्तञ्चमेवित्तिश्चमेभूतञ्चमेभूतिश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम्
॥ १४ ॥ वसुच । मेवसतिश्चमेकर्म्मचमेशक्तिश्चमेर्थश्चमऽ
एमश्चमऽइत्याचमेगतिश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥१५॥ (न०)
अग्निश्च । मऽइन्द्रश्चमेसोमश्चमऽइन्द्रश्चमेसविताचमऽइन्द्रश्च
मेसरस्वतीचमऽ इन्द्रश्चमेपूषाचमऽइन्द्रश्चमेबृहस्पतिश्चमऽ
इन्द्रश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ १६ ॥ मित्रश्च । मऽइन्द्रश्च
मेवरुणश्चमऽइन्द्रश्चमेधाताचमऽइन्द्रश्चमेत्वष्टाचमऽइन्द्रश्चमे
मरुतश्चमऽइन्द्रश्चमेविश्वेचमेदेवाऽइन्द्रश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम्
॥ १७ ॥ पृथिवीच । मऽइन्द्रश्चमेन्तरिक्षञ्चमऽइन्द्रश्च
मेद्यौश्चमऽइन्द्रश्चमेसमाश्चमऽइन्द्रश्चमेनक्षत्राणिचमऽइन्द्र
श्चमेदिशश्चमऽइन्द्रश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम्॥१८॥(न०)अᳮशुश्च ।
मेरश्मिश्चमेदाभ्यश्चमेधिपतिश्चमउपाᳮशुश्चमेन्तर्य्यामश्चमऽ
ऐन्द्रवायवश्चमेमैत्रावरुणश्चमऽआश्विनश्चमेप्रतिप्रस्थानश्च
मेशुक्रश्चमेमन्थीचमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ १९ ॥ आग्रय
णश्च । मेवैश्वदेवश्चमेध्रुवश्चमेवैश्वानरश्चमऽऐन्द्रा
ग्नश्चमेमहावैश्वदेवश्चमेमरुत्वतीयाश्चमेनिष्केवल्यश्चमेसा
वित्रश्चमेसारस्वतश्चमेपात्नीवतश्चमे हारियोजनश्चमे

युज्ञेनंकल्प्पन्ताम् ॥ २० ॥ स्रुचंश्च । मेचमुसाश्चमे
वायुव्यानिचमेद्रोणकलुशश्चमेग्ग्रावाणश्चमेधिषवणेचमेपूतभृ
च्चमऽआधवुनीयंश्चमेवेदिंश्चमेवुर्हिश्चमेवभृथश्चमेस्वगाकारश्चमे
युज्ञेनंकल्प्पन्ताम् ॥२१॥ (न०) अुग्निश्च ॥ मेघुर्म्मश्चमेर्कश्च
मेसूर्य्यश्चमेप्प्राणश्चमेश्वमेधश्चमेपृथिवीचमेदितिश्चमेदितिश्च
मेद्यौश्चमेङ्गुलय॒ शक्कंरयोदिशश्चमेयुज्ञेनंकल्प्पन्ताम् ॥२२॥
व्रतञ्च । मऽऋुतवश्चमेतपश्चमेसंवत्सरश्चमेहोरात्रेऽऊर्वष्ठीवे
वृहद्रथन्तुरेचमेयुज्ञेनंकल्प्पन्ताम् ॥२३॥ (न०) एकांच। मेतिस्र
श्चमेतिस्रश्चमेपञ्चंचमेपञ्चंचमेसुप्तचमेसुप्तचमेनवचमेनवचमुऽ
एकादशचमुऽएकादशचमेत्रयोदशचमेत्रयोदशचमेपञ्चंदशच
मेपञ्चंदशचमेसुप्तदशचमेसुप्तदशचमेनवंदशचमेनवंदशचमुऽ
एकविंशतिश्चमुऽएकविंशतिश्चमेत्रयोविंशतिश्चमेत्रयोविं
शतिश्चमेपञ्चविंशतिश्चमेपञ्चविंशतिश्चमेसुप्तविंशतिश्चमेसु
प्तविंशतिश्चमेनवविंशतिश्चमेनवविंशतिश्चमुऽएकत्रिंशच
मुऽएकत्रिंशचमेत्रयस्त्रिंशचमेयुज्ञेनंकल्प्पन्ताम् ॥२४॥ (न०)
चतस्रश्च । मेष्टौचमेष्टौचमेद्वादशचमेद्वादशचमेषोडशचमे
षोडशचमेविंशतिश्चमेविंशतिश्चमेचतुर्विंशतिश्चमेचतुर्विं
शतिश्चमेष्टाविंशतिश्चमेष्टाविंशतिश्चमेद्वात्रिंशचमेद्वात्रिं
शचमेपट्त्रिंशचमेपट्त्रिंशचमेचत्त्वारिंशचमेचत्त्वारिंशच
मेचतुश्चत्त्वारिंशचमेचतुश्चत्त्वारिंशचमेष्टाचत्त्वारिंशचमेसु

ज्ञेनंकल्प्पन्ताम् ॥२५॥ (न०) त्र्यविंश्च । मेत्र्युवीचमेदित्त्यु
वाट्चमेदित्त्यौहीचमेपञ्चाविश्चमेपञ्चावीचमेत्रिवुत्सश्चमेत्रिवु
त्साचमेतुर्य्युवाट्चमेतुर्य्यौहीचमेयुज्ञेनंकल्प्पन्ताम् ॥२६॥
पुष्ठवाट्च । मेपष्ठौहीचमऽउुक्षाचमेवुशाचम ऽऋषुभश्चमेवे
हच्चमेनड्वाँश्चमेधेनुश्चमेयुज्ञेनंकल्प्पन्ताम् ॥२७॥(न०) वाजाय
स्वाहा । प्प्रसुवायुस्वाहापिजायुस्वाहाक्रतवेस्वाहावसवे
स्वाहाहुर्प्पतयेस्वाहान्हेमुग्ग्धायस्वाहामुग्ग्धायवैनंशिनाय
स्वाहाविनंशिनऽआन्त्यायनायस्वाहान्त्यायभौवुनायस्वा
हाभुवनस्यपतयेस्वाहाधिपतयेस्वाहाप्प्रजापतयेस्वाहा ॥
इयन्तेराण्मित्रायायुन्तासियमनऽऊर्जेत्वावृष्ट्यैत्वाप्प्रजा
नान्त्वाधिपत्याय ॥ २८ ॥ आयुर्य्युज्ञेन । कल्प्पताम्प्रा
णोयुज्ञेनकल्प्पताञ्चक्षुर्य्युज्ञेनकल्प्पताᳯश्रोत्रंयुज्ञेनकल्प्पता
म्वाग्युज्ञेनकल्प्पताम्मनोयुज्ञेनकल्प्पतामात्मा युज्ञेनकल्प्प
ताम्ब्रह्मायुज्ञेनकल्प्पताञ्ज्योतिर्य्युज्ञेनकल्प्पताᳯस्वर्य्युज्ञेन
कल्प्पताम्पृष्ठञ्युज्ञेनकल्प्पतांयुज्ञोयुज्ञेनकल्प्पताम् ॥ स्तोम
श्चयजुश्चऽऋक्क्चसामचबृहच्चरथन्तरञ्च । स्वर्द्देवाऽअगन्मा
मृताऽअभूमप्प्रजापतेᳪप्प्रजाऽअभूमवेट्स्वाहा ॥ २९ ॥
इति रुद्रेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

हरिः ॐ ऋचंवाचम्प्रपद्येमनोयजुᳪप्प्रपद्येसामप्प्रा
णम्प्रपद्येचक्षुᳪश्रोत्रम्प्रपद्ये ॥ वागोजः सुहौजोमयिप्प्रा

णापानौ ॥ १ ॥ यन्मेंछिद्रञ्चक्षुपोहृदयस्यमनसोवातितृण्णम्बृहस्पतिर्म्मेतद्दधातु ॥ शन्नोभवतुभुवनस्ययस्पतिः ॥ २ ॥ भूर्भुवꣳस्वः । तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गोदेवस्य धीमहि ॥ धियोयोनः प्रचोदयात् ॥ ३ ॥ कयानश्चित्रऽआभुवदूतीसदावृधꣳसखा । कयाशचिष्ठयावृता ॥ ४ ॥ कस्त्वा । सत्योमदानाम्मꣳहिष्ठोमत्सदन्धसꣳ ॥ दृढाचिदारुजेवसु ॥ ५ ॥ अभीषुणꣳ । सखीनामविताजरितृणाम् ॥ शतम्भवास्यूतिभिः ॥ ६ ॥ कयात्वन्नऽऊत्याभिप्रमन्दसेवृषन् ॥ कयास्तोतृभ्यऽआभर ॥ ७ ॥ इन्द्रोविश्वस्यराजति ॥ शन्नोऽअस्तुद्विपदेशञ्चतुष्पदे ॥ ८ ॥ शन्नोमित्रःशंवरुणꣳशन्नोभवत्वर्य्यमा ॥ शन्नऽइन्द्रोबृहस्पतिꣳशन्नोविष्णुरुरुक्रमः ॥९॥ शन्नोवातः पवताꣳशन्नस्तपतुसूर्य्यः ॥ शन्नꣳकनिक्रदद्देवःपर्ज्जन्योऽअभिवर्षतु ॥ १० ॥ अहानिशम्भवन्तुनꣳशꣳरात्रीꣳप्रतिधीयताम् ॥ शन्नऽइन्द्राग्नीभवतामवोभिꣳशन्नऽइन्द्रावरुणारातहव्या ॥ शन्नऽइन्द्रापूषणावाजसातौशमिन्द्रासोमासुवितायशंय्योः ॥ ११ ॥ शन्नोदेवीरभिष्टयऽआपोभवन्तुपीतये ॥ शंय्योरभिस्रवन्तुनꣳ ॥ १२ ॥ स्योनापृथिविनोभवानृक्षरानिवेशनी ॥ यच्छानꣳशर्म्म सप्रथाꣳ ॥ १३ ॥ आपोहि । ष्ठामयोभुवस्तानऽऊर्जेदधातन ॥

मुहेरणांयुचक्षसे ॥ १४ ॥ योवं÷शिवतंमोरसुस्तस्यंभा
जयतेहनं÷ ॥ उशुतीरिवमातरं÷ ॥ १५ ॥ तस्म्माऽअरं
ङ्गमामवोयस्युक्षयायुजिन्न्वंथ॥ आपोंजुनयंथाचन८ ॥१६॥
द्यौ?शान्तिरुन्तरिक्षुंशान्ति÷पृथिवीशान्तिरापु८ शान्तिरो
षंधयु८शान्तिं÷॥ वनुस्प्पतंयु८शान्तिर्विश्श्वेंदेवा?शान्ति
र्ब्रह्मशान्तिु८सर्वुंशान्तिु८शान्तिरेवशान्तिु८सामाशान्तिरेधि
॥ १७ ॥ दृतेदृंहंमामित्रस्यंमाचक्षुंषासर्वाणिभूतानिसमीं
क्षन्ताम् ॥ मित्रस्याहञ्चक्षुंषासर्वाणिभूतानिसमीक्षे ॥ मित्र
स्युचक्षुंषासमीक्षामहे ॥१८॥ दृतेदृंहंमा ॥ ज्योक्क्तेंसुन्द
शिंजीव्यासुञ्ज्योक्क्तेंसुन्दशिंजीव्यासम् ॥ १९ ॥ नमंस्ते
हरंसेशोचिषेनमंस्तेऽअस्त्वुर्चिषे ॥ अुन्न्याँस्तेऽअुस्म्मत्तंपन्तु
हेुतयं÷पावुकोऽअुस्म्मब्भ्यंशिवोभंव॥ २० ॥ नमंस्तेऽ
अस्तुविद्युतेुनमंस्तेस्तनयित्नवें॥नमंस्तेभगवन्नस्तुयत८स्व÷
सुमीहसे ॥ २१ ॥ यतोयत८सुमीहंसेततोंनोुऽअभंयङ्कुरु॥
शन्नं÷कुरुप्प्रजाब्भ्योभंयन्न८पशुब्भ्यं÷॥२२॥ सुमित्रिया
नुऽआपुऽओषंधय८सन्तुदुर्म्मित्रियास्तस्म्मैसन्तुयोुस्मान्द्वेष्टि
यञ्चंवुयंद्विष्म्म? ॥ २३ ॥ तच्चक्षुर्देवहिंतम्पुरस्ताच्छुक्क
मुच्चरत् ॥ पश्येंमशुरदं÷शुतञ्जीवेंमशुरदं÷शुतंश्रृणुयाम
शुरदं÷शुतंप्प्रब्रवामशुरदं÷शुतमदीना८स्यामशुरदं÷शुत
म्भूयंश्चशुरदं÷शुतात् ॥२४॥इति रुद्रे शान्त्यध्यायः॥॥

अथ रुद्रे स्वस्तिप्रार्थनामन्त्राध्यायः ॥

हरिः ॐ ॥ स्वुस्तिनुऽइन्द्रोंवृद्धश्श्रवा८ंस्वुस्तिनं॑ः पूषाविश्श्ववेदा८ं ॥ स्वुस्तिनुस्ताक्ष्योंऽअरिंष्टनेमि८ंस्वुस्ति नोबृहुस्प्पतिर्दधातु ॥ १ ॥ ॐ पयं॑ःपृथिव्याम्पयुऽओष धीपुपयोंदिव्युन्तरिक्षेपयोंधा८ं । पयंस्वती८ंप्रुदिशं॑ः सन्तुमह्यम् ॥ २ ॥ ॐ व्विष्णोंररा॑टमसिव्विष्णो८ंश्नप्त्रे स्त्थोव्विष्णो८स्यूरसिव्विष्णोंर्ध्रुवोसि ॥ व्वैष्णुवमसिव्वि ष्णवेत्वा ॥ ३ ॥ ॐ अग्निर्देवतावातोंदेवतासूर्य्योंदेवता चन्द्रमादेवतावसंवोदेवतारुद्रादेवतादित्त्यादेवतामुरुतोंदेव ताविश्वेदेवादेवताबृहुस्प्पतिर्देवतेन्द्रोंदेवतावरुणोदेवता ॥ ४ ॥ ॐ सुद्योजातंप्रपद्यामिसुद्योजातायुवैनमोनमः ॥ भुवेभवेनातिभवेभवस्वुमांभुवोद्भवायुनमः ॥ ५ ॥ वामदे वायुनमोज्येष्ठायुनम॑ःश्रेष्ठायुनमोरुद्रायुनमः कालायुनमः कलविकरणायुनमोबलविकरणायुनमो बलायुनमोबलप्रमथ नायुनमःसर्वभूतदमनायुनमोंमुनोन्मनायुनमः ॥ ६ ॥ अघोरेभ्योथघोरेभ्योघोरघोरतरेभ्यः ॥ सर्वेभ्यःसर्वशर्वे भ्योनमस्तेऽअस्तुरुद्ररूपेभ्यः ॥ ७ ॥ तत्पुरुषायविद्महे महादेवायधीमहि ॥ तन्नोरुद्रःप्रचोदयात् ॥ ८ ॥ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरःसर्वभूतानाम् ॥ ब्रह्माधिपति र्ब्रह्मणोधिपतिर्ब्रह्माशिवोमेअस्तुसदाशिवोम् ॥ ९ ॥ ॐ

शिवोनामासिस्वधितिस्तेपितानमस्तेऽअस्तुमामाहिᳬसीः ।। निर्वर्तयाम्म्यायुषेन्नाद्यायप्प्रजननायरायस्पोषाय सुप्प्रजा स्त्वायसुवीर्य्याय ।। १० ।। ॐ विश्वानिदेवसवितर्दुरितानिपरासुव ।। यद्भद्रन्तन्नऽआसुव ।। ११ ।। ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षᳬशान्तिः पृथिवीशान्तिरापःशान्तिरोषधयः शान्तिः ।। वनस्प्पतयःशान्तिर्विश्वेदेवाःशान्तिर्ब्रह्म शान्तिःसर्वᳬशान्तिःशान्तिरेवशान्तिःसामाशान्तिरेधि ।। १२ ।। ॐ सर्वेषां वा एष वेदानाᳬरसोयत्सामसर्वेषामेवैनमेतद्वेदानाᳬरसेनाभिषिञ्चति ।। १३ ।। ॐ शान्तिः शान्तिः सुशान्तिर्भवतु सर्वारिष्टशान्तिर्भवतु ।। अनेन रुद्राभिषेककर्मणा कृतेन श्रीभवानीशङ्करमहारुद्रः प्रीयतां न मम ॐ सदाशिवार्पणमस्तु । इति स्वस्ति प्रार्थनामंत्राध्यायः ।।

श्रीः

अथ रुद्रभेदाः

रुद्रकल्पद्रुमे—

शृणुध्व भो महाप्राज्ञ रुद्रभेदान्वदामि ते ।
रुद्राः पञ्चविधाः प्रोक्ता देशिकैरुत्तरोत्तरम् ॥
साङ्गस्त्वाद्यो रूपकाख्यः सशीर्षो रुद्र उच्यते ।
एकादश गुणैस्तद्वद्रुद्रिसंज्ञो द्वितीयकः ॥
एकादशभिरेताभिस्तृतीयो लघुरुद्रकः ।
लघ्वेकादशभिः प्रोक्तो महारुद्रश्चतुर्थकः ॥
पञ्चमः स्यान्महारुद्रैरेकादशभिरन्तिमः ।
अतिरुद्रः समाख्यातः सर्वेभ्यो ह्युत्तमोत्तमः ॥

श्री रुद्रभगवानके पांच भेद आचार्योंने कहे हैं। साङ्ग अर्थात् हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्रादि पञ्चाङ्गके सहित रुद्राध्यायका सम्पूर्ण पाठ करके पुनः महच्छीर्ष एवं जटाका (अथवा पक्षान्तरमें चमकाध्यायका) पाठ और शान्त्यध्यायका पाठ करे। यह प्रथम प्रकार है। इसका नाम रुद्र है।

सम्पूर्ण रुद्राध्यायके अन्तमें चमकानुवाककी आवृत्ति लगाकर एकादशावृत्ति करे यह द्वितीय प्रकार है। इसका नाम 'रुद्रि' है। इसीको 'रुद्रैकादशिनी' भी कहते हैं।

इसी रुद्रैकादशिनीकी ११ आवृत्ति करना (११ रुद्रि) यह तृतीय प्रकार है और इसका नाम 'लघुरुद्र' है।

लघुरुद्रकी ११ आवृत्ति करना (अर्थात् रुद्रिकी १२१ आवृत्ति) यह चतुर्थ प्रकार है। इसका नाम 'महारुद्र' है।

महारुद्रकी ११ आवृत्ति करना (अर्थात् रुद्रिकी १३३१ आवृत्ति) यह पञ्चम प्रकार है। इसका नाम 'अतिरुद्र' है। इन पांचोंमें प्रत्येक उत्तरोत्तर

उत्तम माना गया है। जैसे पहलेसे दूसरा, दूसरेसे तीसरा, तीसरेसे चौथा, और चौथेसे पांचवां प्रकार उत्तम है।

अथ रुद्रैकादशिनी जप प्रकारः

रुद्र कल्पद्रुमे परशुरामः—

सांङ्गमाद्यं जपेद्रुद्रं केवलानि नवान्तरे।
साङ्गं सशीर्षकं चान्त्यं निरङ्गमिति केचन ॥

शान्तिरत्ने कौशिक बौधायनौ—

जपित्वा सर्वरुद्रांश्च चमकाद्यं ततो जपेत्।
पुनरेतज्जपेत्सर्वं द्वितीयं चमकं तथा ॥
एवमेकादशगुणान् क्रमेण चमकांस्तथा।
रुद्रैकादशिनी त्वेषा सर्वकामफलप्रदा ॥

अब रुद्रैकादशिनीका प्रकार कहते हैं। पहिले रुद्राध्यायका हृदयादि पञ्चाङ्गों के साथ पाठ करे। फिर (महच्छीर्ष, जटाका, पाठ करके) चमकाध्याय-का प्रथम अनुवाक (४ मन्त्र) कहे। मध्यमें केवल ९ बार रुद्राध्यायका पाठ करे। प्रत्येक पाठके अन्तमें चमकाध्यायका एक एक अनुवाक कहना चाहिये। इस प्रकार, रुद्राध्यायका दश पाठ हुआ। पुनः ग्यारहवां पाठ हृदयादि पञ्चाङ्गोंके साथ, अथवा केवल, करके अन्तिम चमकानुवाक पढ़े। चमकाध्याय और महच्छीर्षके पाठमें विकल्प है, पर, इसमें प्रचलित परम्परा चमकानुवाकके साथ ही रुद्राध्यायके पाठकी है। विकल्प होनेपर भी लोग महच्छीर्षका (तथा जटाका भी) पाठमात्र ही करते हैं, हवनादि उससे नहीं होता, यही शिष्ट सम्प्रदाय है। ११ आवृत्ति पूरी होनेपर शान्त्यर्थ शान्त्यध्यायका पाठ करे। फिर 'सद्योजातं' आदि इन पांच मन्त्रोंसे पञ्चवक्त्ररुद्रकी स्तुति कर 'ॐ शान्तिः' ऐसा ३ बार कहे। समाप्तिमें भी पूर्वोक्त प्रकारसे हृदयादि षडङ्गन्यास करे। प्रत्येक रुद्राध्यायके आदि और अन्तमें ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ इस प्रकार सप्रणव व्याहृति लगाना चाहिये।

अथ रुद्रस्वरूपम्

रुद्र कल्पद्रुमे बृहत्पराशरः—

शिखा तस्य तु रुद्रस्योत्तरं नारायणं स्मृतः।
शिरः पुरुषसूक्तं च शिवसंकल्पकं च हृत्॥
कवचं चाऽप्रतिरथं नेत्रं विभ्राड् बृहत्स्मृतम्।
शतरुद्रियमस्त्रंच देवस्यास्त्रं प्रकल्पयेत्॥

तत्रैव—

पूर्वमङ्गानि संजप्य रुद्राध्यायं ततो जपेत्।
तदन्ते सप्तमग्राह्य 'वयंसोम' महच्छिरः॥
उग्रश्चेति यजुर्मन्त्रं जटामाहुर्जपेदिति॥

अब यहां श्री रुद्रभगवानका स्वरूप वर्णन करते हैं। 'अद्भ्यः सम्भृतः' इस १७ वें मन्त्रसे अध्याय समाप्ति पर्यन्त ६ मन्त्र 'उत्तर नारायण सूक्त' कहलाते हैं, यह रुद्रभगवानकी शिखा है। द्वितीयाध्यायके आरम्भसे १६ मन्त्र 'पुरुषसूक्त' हैं, यह रुद्रभगवानका मस्तक है। प्रथमाध्यायमें 'यज्जाग्रतः' इस पञ्चम मन्त्रसे अध्याय समाप्ति पर्यन्त ६ मन्त्र 'शिवसंकल्पसूक्त' हैं, यह रुद्रभगवानका हृदय है। तृतीयाध्यायके आरम्भसे १२ मन्त्र 'अप्रतिरथसूक्त' कहलाते हैं; यह कवच हैं। चतुर्थाध्याय सम्पूर्ण 'सौरसूक्त' कहलाते हैं, यह रुद्र भगवानके नेत्र हैं। 'शतरुद्रिय' अर्थात् सम्पूर्ण पञ्चमाध्याय रुद्रभगवानके अस्त्र हैं। इसीको 'रुद्राध्याय' कहते हैं।

पूर्व अङ्गोंका पाठ करनेके बाद सम्पूर्ण षष्ठाध्याय जो रुद्रभगवानका महत् शिर, एवं सप्तमाध्याय जो रुद्रभगवानकी जटा है, इसका भी पाठ करना चाहिये।

अथ रुद्रफलानि

तत्र जाबालश्रुतिः—

किं जप्येनामृतत्वं नो ब्रूहि शतरुद्रियेणेत्येतानि ह वा अमृतनामधेयैर्ह वा अमृतो भवतीति।

कैवल्योपनिषदि—

यः शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति कृत्याकृत्यात्पूतो भवति। अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम्। तस्मादेनं विदित्वैव कैवल्य फलमश्नुतइति।

रुद्रस्यत्रैविध्यम्

बोधायनः—

अथातः पञ्चाङ्गरुद्राणां जपहोमार्चनविधिं व्याख्यास्यामः। अर्चनमभिषेक इति महार्णवः।

अभिषेकात्मकः

रुद्रचिन्तामणौ-सभाष्य रुद्रपद्धतौ च—

जलेन वृष्टिमाप्नोति व्याधिशान्त्यै कुशोदकैः।
दध्ना च पशुकामाय श्रिया इक्षुरसेन च॥
मध्वाज्येन धनार्थी च मुमुक्षुस्तीर्थवारिणा।
पुत्रार्थी पुत्रमाप्नोति पयसाश्चाभिषेचनात्॥

जपात्मकः

पाद्मे-शिवगीतासु—

यस्तु रुद्रं जपेन्नित्यं ध्यायमानो ममाकृतिम्।
स तेनैव च देहेन शिवः सञ्जायते ध्रुवम्॥

वायवीये—

सर्वेषु ग्रहदोषेषु दुःस्वप्नाद्भुतदर्शने।
जपन् रुद्रान्सकृद्विप्रः सर्वदोषैः प्रमुच्यते॥

रुद्र कल्पद्रुमे—

नमकं चमकं चैव पौरुषं सूक्तमेव च।
नित्यं त्रयं प्रयुञ्जानो ब्रह्मलोके महीयते॥

होमात्मकः

विष्णु धर्मोत्तरे—

रुद्राणां च तथाजप्यं सर्वाघविनिषूदनम्।
सर्वकामकरोहोमस्तथा सर्वत्र शान्तिदः॥
अजाविकानामश्वानां कुञ्जराणां तथा गवाम्।
मनुष्याणां नरेन्द्राणां वालानां योषितामपि॥
ग्रामाणां नगराणां च देशानामपि भार्गव।
मरके समनुप्राप्ते रिपुजे च तथा भये॥
रुद्रहोमः पराशान्तिः पायसेन घृतेन वा॥

इत्यादि वचनोंसे पूर्वोक्त पञ्चभेदात्मकरुद्रका अनुष्ठान तीन प्रकारसे होता है। अभिषेकात्मक, जपात्मक, होमात्मक, ये तीनों ही प्रकार उत्तम हैं। तीनोंके फल ऊपर बताये गये हैं। रुद्रानुष्ठानसे बढ़कर पीड़ा और संकट निवारक, इहलौकिक कल्याण और पारलौकिक श्रेय प्रदान करनेवाला कोई दूसरा साधन हमारे यहाँ नहीं है। 'अधिकस्याधिकं फलम्' इस न्यायसे जो जितना अधिक करेगा उसे उतना ही अधिक फल मिलेगा। मुख्य प्रश्न श्रद्धा और विधिका है। विधि संक्षेपमें ऊपर बता दी गयी है। श्रद्धा अपनी अपनी है तदनुरूप फल भी मिलता है—'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।'

यह रुद्रानुष्ठान द्विजाति मात्रको स्वयं अथवा अपने प्रतिनिधिभूत वैदिक ब्राह्मणोंके द्वारा करना-कराना चाहिये। कहा भी है—

स्वयं कर्तुमशक्तश्चेद्द्विजैर्विप्रैः कर्मकारयेत्॥

केदारनाथ शर्मा
(अग्निहोत्री)

ॐ श्रीः ॐ

उपोद्घात

पूर्वाचार्योंके अनुभव और उपदेशसे लाभ उठाना तथा अपने अनुभव और मननका फल आगे आनेवालोंके लिए छोड़ जाना, यही मननशील मनुष्यका स्वभाव है, और यही उन्नतिका मुख्य साधन। पूर्वजोंके पदचिन्होंका अनुसरण कर हम मनुष्य हुए; हमारा कर्तव्य है कि पीछे आनेवालोंके लिए कुछ चिन्ह छोड़ जांय, जिसमें वे यदि चाहें तो पथभ्रष्ट होनेसे बचें, तथा स्वयं सुखी होकर औरोंको भी सुखका मार्ग दिखा सकें। यह छोटीसी पुस्तक लिखनेका यही हेतु है। मैं विद्वान् नहीं हूं, न मुनि, न तपस्वी; संसारमें रहते हुए, पूर्वकर्मोंका भोग करते हुए विद्वत्संगसे जो कुछ ज्ञान हुआ, श्रुति-स्मृतिका जो अर्थ समझमें आया, और दीर्घकालके अनुभवसे जो कुछ मालूम हुआ, वही आज इस पुस्तक-द्वारा नम्रता पूर्वक नर-नारायणकी सेवामें उपस्थित कर रहा हूँ।

यह मेरे पक्षमें केवल धृष्टता है, अथवा इसका कुछ उपयोग भी है, इसका निर्णय करनेके अधिकारी तो पाठक ही हैं। जिसे आजतक अपना समझता रहा वही जिसमें सबका हो जाय, आत्मबुद्धि परमात्मबुद्धिमें मिलकर कृतकृत्य हो, यही आशा इस प्रयासकी प्रेरिका है।

आत्मा घटघटमें व्याप्त है। वही सर्वत्र दीखता है, और प्रसिद्ध है। फिर उसके विचारकी आवश्यकता ही क्या है? इसका सामान्यतया उत्तर यह है कि जो बहुत परिचयका होता है, जो अत्यन्त निकट होता है, उसीका विचार सबसे कठिन होता है। जौहरी हीरा पहचान सकता है पर अपने आपको पहिचानना बड़ा कठिन है। यह अत्यन्त कठिन है इसीसे श्रुतिने भी इसपर जोर दिया है। यथा:—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" (बृ० आ० २।४।५) क्यों इसको जानना चाहिए, इसका उत्तर भी वही श्रुति देती है—"आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।" (आत्माके देखने सुनने मनन करने और जाननेसे सबका ज्ञान होता है।) आत्मा सर्वव्यापक है, इसलिए उसको जाननेका यत्न करनेकी आवश्यकता नहीं, यह धारणा बिलकुल भ्रममूलक है; परन्तु उसको जाननेसे सब जाना जाता है—जाननेको और कुछ बाकी नहीं रह जाता, अतएव उसे जाननेका यत्न करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। यह एक कारण हुआ। दूसरा कारण यह भी है कि शास्त्रोंमें आत्मा को ब्रह्म भी कहा है, पुरुष भी कहा है, और जीव भी। इन भेदोंको समझकर सन्देह-रहित होनेके लिए भी 'आत्म-विचार' आवश्यक है।

आत्मा अदृश्य और व्यापक है। संसार वा सृष्टिका जब व्यापार होता है तो वह व्यापाररूपमें वा व्यापारके लिए दीखता है। उस समय उसके दो भाव होते हैं। जो दीखता है वह "पर" होता है, इसलिए पर की आत्माको परमात्मा और शरीर की आत्माको केवल आत्मा कहा जाता है; यही व्यापार है। इसको नैयायिकोंने द्रव्य कहकर दो भागोंमें विभक्त किया है। उन्होंने परमात्माको परमाणु और आत्माको अणु कहा है। प्राण और मनसे विशिष्ट होनेपर शरीरात्माको ही जीवात्मा भी कहते हैं। सृष्टिव्यापारके लिए वही समस्त रूपोंको धारण करता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, दिक्, नक्षत्र आदि सबको एक साथ लेकर अर्थात् उसके समष्टि-रूपको ब्रह्म कहते हैं। वही आदित्य-रूपसे दिखाई देता है। शरीर-आत्माको हम आँखोंसे देखते हैं। उसीको आदित्य और सोलह-कलायुक्त पुरुष कहा जाता है। सामान्य और एकरूपसे यही ब्रह्म है। वही पुरुष-रूपका विभाग करता और कराता है। तथा शरीर-रूपी पुरीमें रहनेके कारण पुरुष कहलाता है। एक भावसे सोलह कलाओंसे युक्त होनेके कारण वही (एक) आदित्य पुरुष है, और वही विभक्त होकर अनेक भावोंमें दीखता है तो अनेक-पुरुष कहलाता है। गुण कर्म जैसा छोटा बड़ा होता है, पुरी भी वैसी ही छोटी बड़ी अनेक प्रकारकी होती है। उस पुरीमें प्राण और मनसे युक्त होनेपर वही पुरुष जीव कहलाता है। आत्मा के नामके ये ही चार भेद शास्त्रोंमें प्रमाणित हैं।

जो अदृश्य रहता है वह आत्मा है। जो सबको सब रूपोंमें दीखता है वह ब्रह्म है। गुण-कर्मानुसार छोटी या बड़ी पुरीमें रहनेके कारण ब्रह्मका नाम पुरुष होता है। यही पुरुष पुरुषार्थके

द्वारा अर्थकी सिद्धि कराता है। सांख्य शास्त्रका यही मत है। उसको फलके साथ जो युक्त करता है उसे ईश्वर कहा है। मन और प्राण के द्वारा जो भोग करता है उसे जीव कहते हैं। फिर वही पुरुष साक्षीरूप होकर जीवको, उसने जैसा समवाय (संचय) किया हो तदनुरूप, फल देता है; यही भेद है। और विचार करनेसे अभेद हो जाता है। जो भेदरहित होकर, सारे भेदोंमें अभेद देखता हुआ केवल शरीरसे क्रिया करता है वही आत्मदर्शी वा आत्मज्ञानी है। आत्माको ॐ और शरीरको उद्गीथ कहते हैं।

ब्रह्म एक है। सर्वज्ञ और सर्वशक्ति-सम्पन्न है। मकड़ी जैसे अपने ही सूत्रसे अपना घर बना लेती है उसी तरह वह भी आप अपनेसे इस विश्वका निर्माण करता है। वही पुरुष, ईश्वर वा सर्वसाक्षी होकर अपने अंशभूतजीवको उसके प्रारब्धके अनुसार अर्थकी प्राप्ति कराता है। जीव स्वयं भोक्ता औरं दूसरेके प्रति भोग्य है।

सृष्टिके लिए ईश्वरने दाम्पत्यकी सृष्टि की है। ब्रह्मांशभूत-जीव उसका सूत्रपात करता है। उससे नाभिचक्रके द्वारा जरायु-पटकी उत्पत्ति होती है जो गर्भमें बच्चेकी रक्षा करता है। जरायुपटसे आच्छन्न वही देह जब बाहर आता है तो अनेक चेष्टाओंका आश्रय होता है, अतः उसे घट कहते हैं। उसीको शरीर, पुरी और कर्म भी कहते हैं। उक्त शरीररूपी पुरीमें विहार वा शयन करनेके कारण ब्रह्मको पुरुष कहते हैं। स्थावर जंगम समस्त सृष्टिका क्रम यही है। वही एक ब्रह्म अपने सूत्रद्वारा समस्त विश्वमें व्याप्त होकर घटघटमें प्रकाश करता है।

अन्तमें निवेदन यही है कि पाण्डित्यका परिचय देनेके लिए

यह प्रयास नहीं किया गया है। किन्तु जिन्हें वेदान्तसे रुचि है, पर समयका अभाव, और विद्वानोंका संग प्राप्त न होनेके कारण उसके अध्ययनसे वंचित रह जाते हैं, उनको जिसमें हिन्दी भाषाके द्वारा वेदान्तके रहस्योंका ज्ञान हो जाय इसलिए यह यत्न किया गया है। इसमें सफलता कहांतक प्राप्त हुई है, इसका निर्णय तो पाठक ही कर सकते हैं। इस पुस्तकसे यदि एक भी जीवका उद्धार हुआ, यदि अधिक गहरे पानीमें पैठकर रत्न निकालनेकी इच्छा उत्पन्न हुई, तो मैं अपने प्रयासको सफल समझूंगा।

बलदेवदास बिरला

दार्शनिक विचार

वेदगीता रहस्य

एक आकाशमें एक ही शक्ति सब जगह व्यापकरूपसे है। वही आत्मा और ब्रह्म है। वह रूप होकर अनेक नामसे है। स्थिररूपका नाम परमात्मा है, और वही 'स ह' है। उसका 'आत्मा' यह नाम स्थिररूपको समझनेके वास्ते है। उसी स्थिर रूपमें विषय और रूपकी प्राप्तिके लिए जिसकी भक्ति की जाती है वह परमेश्वर है। उसीका आत्मामें कर्मफल ज्ञात करानेके कारण ईश्वर नाम है। शरीरसे कार्य होता है तो साक्षीरूपसे विशेष होकर वह पुरुष साथमें रहता है। वही शरीरसे कर्मभोग कर मरता है और उत्पन्न होता है। उसीका नाम जीवात्मा है। अव्यक्तमें परमात्मा, और आत्मा व्यक्तमें है। उसीका नाम संसार (जड़

चेतन-समूह) है। भेदसे उसका नाम जगत् है। वही जगत् एक रूप नामसे लोक शरीर और जीव भी कहलाता है। शरीरसे ही कर्म होता है, शरीर ही भोगता है और वही मरता है। उसीका नाम भाव या इन्द्रिय-शरीर है। इसके कर्मके साथ रहनेवाला, और जिससे भाव या इन्द्रिय-शरीर विपय करते और भोगते हैं उसका नाम मन है। वह चित्तमें रहकर अव्यक्त है, और चित्त आत्माके साथ रहनेसे व्यक्त है। जब भाव या इन्द्रिय-शरीर सामनेकी वस्तुको विपय करके मनमें आता है तो वह कर्म भोगनेको आगेकी क्रिया करके निश्चयात्मक-बुद्धि हो जानेपर अहंकारमें अभिमान करके भोगकी उत्पत्ति करता है। भोगका नाम स्वर्ग है। क्रियासे शेपकर्म-शरीरका त्याग हो तो उसका नाम मोक्ष है। मन शेपकर्मसे दूसरा शरीर धारण करता है। उसमें भूतकालके कर्मको दैव कहा जाता है। उसीका वर्तमानमें ज्ञानेन्द्रियोंसे भोग होता है और कर्मेन्द्रियों द्वारा त्यागके कर्मसे भविप्यमें मन शरीर बनाता है। ये तीनों काल शरीरमें और शरीरपर हैं। चौथा आत्माका महाकाल है। वह सबसे नित्य है। भूत, भविप्यत् और वर्तमान ये तीनों काल शरीरसे समझे जाते हैं, और महाकाल सूर्यसे। जैसा लिखा है, 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुपश्च ।' वही शरीरमें प्राण मन है। सब रूप ब्रह्मका है, और शरीरकी उत्पत्ति ब्रह्मके आचारसे है। अपने अपने शरीरके धर्मके अनुसार जो ब्रह्मके रूपमें प्राप्ति होती है, उसका नाम भोग है। जो कर्मकी उत्पत्ति अपने अपने धर्मके भेदसे होती है वह कर्मकी उत्पत्ति, और कर्मका भोग स्व-स्वभावसे मन द्वारा होता है, और मनमें रहता है। क्योंकि वही शरीरका बीज रूप है। जैसे बीज दीखता है और भूमिमें बो देनेपर वह

अदृश्य हो जाता है, फिर वही अंकुर रूपसे वृक्ष होकर दीखता है, और फलता है। उसी तरह मन पूर्वशरीरको छोड़कर दूसरे पुरुषके रस-बीजमें आता है, और वही स्त्रीरूपी भूमिमें रसरूप बनकर गर्भसे बाहर आता है। यह जड़ और चेतनकी एक ही बात है। वही मन बीज उत्पन्न होता है। जैसे वृक्ष फलको उत्पन्न करता है, वैसे ही शरीरसे भी फल उत्पन्न होता है, और वही फल बीजरूप है। यही बात शरीरमें समझनी चाहिये। मनका स्थानापन्न पुरुष, और भाव या इन्द्रिय-शरीरका स्थानापन्न जीव है। वह मरता है। और वेद-पुरुष या मन नित्य है, वही पूर्व शरीरका शेषकर्म लेकर दूसरे शरीरकी उत्पत्ति करता है। उसका नाम वर्तमान शरीर है। वही मध्यान्ह है, और वही काल। वही स्व-स्वभावके द्वारा जगत्का अलग अलग भेद करता है। श्रुति और चक्षुसे लक्षणा करके सामान्यरूप करण द्वारा भोगता है। और चक्षु और श्रुतिसे मनमें अभिमान करके शेषकर्मसे दूसरा शरीर बनता है। अतः इसी ज्ञानका नाम वेद है।

शरीरमें तीन तरहके ज्ञान हैं—चित्तमें भूतकालका ज्ञान, मनमें भूत और भविष्यत् कालका ज्ञान, और वर्तमानके भावमें वर्तमान कालका ज्ञान। ये तीनों ज्ञान वेदमें हैं, अतः उसे त्रयी कहते हैं। अतएव गीतामें भी कहा गया है—"त्रैगुण्यविषया वेदाः"। अन्यत्र यह भी कहा गया है—"निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"। ये सब महाकालमें रहते हैं। अतः कभी उत्पत्ति होती है, तो कभी लय भी होता है। यही इस अष्टादशश्लोकी वेदगीताका गूढ़ अभिप्राय है। यह बात गीताके दूसरे अध्यायके २०वें श्लोकमें (वेद-प्रकरणके आरंभसे) स्पष्ट है।

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" ॥

वेदपुरुप नित्य है, और जीवशरीर अनित्य है। यह वात—

"वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुपः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥"

इस श्लोकसे सिद्ध होती है। गीताके २२वें श्लोकसे—

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
"तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥"

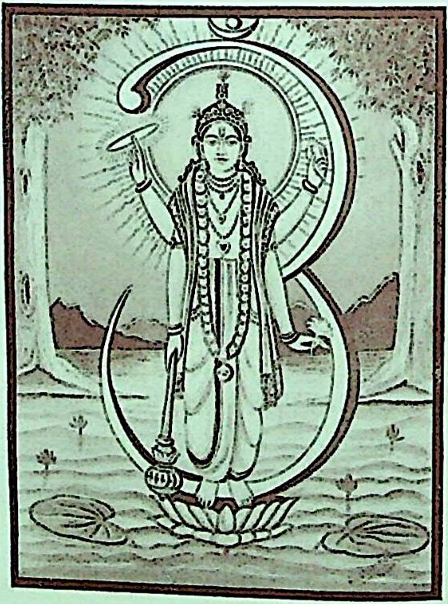
वेदपुरुप है और वह नित्य है। वस्त्रकी तरह वह इस शरीरको छोड़ता है, और दूसरा शरीर धारण करता है, यही वात समझनेकी है। ब्रह्म = वेद जाननेवाला ब्राह्मण अपने अपने शरीरमें रहता है। शरीरके भेदसे उसका भेद होता है। उक्त वेद मनमें रहता है, अतः मनका नाम वेद है। वही ब्रह्मको जाननेसे ब्राह्मण कहलाता है। अक्षर ब्रह्म है, अक्षर नित्य है। और क्षर, भाव, शरीर, तथा विपय अनित्य है। अक्षर वेदका नाम है। मन वांचता है, और वही लिखता है। अतः मन अक्षर है, और नित्य है। अक्षर भावमें वह अनित्य है। वही भाव या इन्द्रिय-शरीर मरता है, और उत्पन्न होता है। भावका कार्य शरीरसे त्यक्त होकर मनमें जाता है, और मन वर्तमानके ज्ञान द्वारा इन्द्रिय-शरीरसे भोग करता है। वह मन = वेद नित्य है, अविनाशी है। वेद समझने और समझानेको भी कहते हैं। उसका प्रकार पुस्तकोंमें लिखा हुआ है। अतः उसका अक्षर नित्य है और कागज अनित्य। वे (अक्षर) सवके समझने और समझानेमें आते हैं। मन ही समझता और समझाता है, इससे

वह नित्य है। अर्थ भोगा जाता है अतः वह अनित्य है। यही वेद मनके वेदमें है। और इसीका वर्णन इस अष्टादश श्लोकी गीतामें है।

समस्त शरीरके अन्तःकरणमें शब्दयोगका अधिकार लेकर मनका निवास है। वह चक्षुके द्वारा बाहरी रूपका ग्रहण करता है। प्रयोजन समझकर दूसरेको समझानेके वास्ते मुखसे शब्दका उच्चारण करता है। उस शब्दको दूसरा कानके द्वारा ग्रहण करता है। और चक्षुके द्वारा सामनेके रूपको देखता है। पुनः बोलता है। ये ही ६ सम्बन्ध दो शरीरोंमें होते हैं—मनके साथ ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंके योगसे ५, और १ स्वतन्त्र मनका। उन्हींको शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्यौतिप और कल्प = कल्पना कहते हैं। दो शरीरोंमें वेद = वेदान्त है। शरीरका नाम वेदान्त है। क्योंकि कभी तो सम्बन्ध होनेसे उसकी उत्पत्ति होती है, और कभी भोग होनेसे उसका नाश होता है। मनमें जो पूर्वकी वस्तु लायी गयी है वही शिक्षा है। जो उसके संकेतसे व्यवहृत होता है वह व्याकरण है। जो फलका निश्चय किया जाता है वह निरुक्त है। जो फल संसारमें दूसरेके पास है उसको अपने अनुकूल देखना छन्द है। लक्षणा करके ग्रहण करना ज्यौतिप है। फलकी कल्पना करना कल्प है। एक वक्त शरीरके शब्दयोग से अधिकार बनता है और दूसरे वक्त भोग होकर संन्यास होता है। शब्दसे रूप समझा जाता है और रूपके द्वारा रसका मनमें ज्ञान होता है। उसका नाम वेद है। मुखके द्वारा दूसरोंको शब्द और रूपका ज्ञान कराया जाता है, रूपका चक्षुसे और रसका रसनासे ज्ञान होता है। एक शरीरसे अधिकार होता है और दूसरे शरीरसे भोग होता है। वर्तमानमें पूर्वकर्मका भोग

होता है और उत्तरमें त्यागकर्मका अधिकार होता है। इसीका विस्तारके साथ कर्म-धर्मके नामसे गीताके ७०० श्लोकोंमें वर्णन किया गया है। कर्म (कीर्ति) कानसे सुना जाता है और धर्म (शरीर) चक्षुसे दीखता है; श्रुतिसे अधिकार-कर्म जाना जाता है, लक्षणासे प्रिय और अप्रिय समझकर भोग होता है। कर्मेन्द्रियों के त्यागसे उत्तरकर्म बनता है और ज्ञानेन्द्रियोंके भोगसे संन्यास होता है। यही दो कर्म मुख्य हैं, और यही वेद पुरुषका स्वरूप है। इससे यही सिद्ध होता है कि—वेद बीजस्वरूप है, क्योंकि भूतमें उसका नाम है, और भविष्यमें उसका वृक्ष, फल, और बीज है।

मंगलाचरण



तं वेदपुरुषं नौमि लोकाः स्युर्यदनुग्रहात् ।
अध्यस्तं च जगत्तस्मिन् शोधयन्ति मनीषिणः ॥

अष्टादशश्लोकी वेदगीता

(१)

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥
गीता, अ० २, श्लो० २१

(२)

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥
गीता, अ० ७, श्लो० २६

(३)

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥
गीता, अ० ८, श्लो० २८

(४)

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥
गीता, अ० १०, श्लो० २२

(५)

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
गीता, अ० २, श्लो० ४५

(६)

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

गीता, अ० ८, श्लो० ११

(७)

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥

गीता, अ० ११, श्लो० ४८

(८)

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥

गीता, अ० ११, श्लो० ५३

(९)

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥

गीता, अ० २, श्लो० ४२

(१०)

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

गीता, अ० २, श्लो० ४६

(११)

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥

गीता, अ० २, श्लो० ५२

(१२)

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥

गीता, अ० ४, श्लो० ५

(१३)

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥

गीता, अ० ७, श्लो० ८

(१४)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ॥

गीता, अ० १५, श्लो १५

(१५)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

गीता, अ० १५, श्लो० १८

(१६)

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

गीता, अ० १७, श्लो० २३

(१७)

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

गीता, अ० २, श्लो० २९

(१८)

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

गीता, अ० १५, श्लो० १

वेदगीतार्थदीपिका

(१) शाङ्करी (२) श्रीधरी तथा (३) भावार्थबोधिनी।

(१)

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥

गीता, अ० २, श्लो० २१

य एनं वेत्ति हन्तारं (गी० २. १९) इत्यनेन मन्त्रेण हननक्रियायाः कर्ता कर्म च न भवतीति प्रतिज्ञाय "न जायते" (गी० २. २०) इत्यनेनाविक्रियत्वे हेतुमुक्त्वा प्रतिज्ञातार्थमुपसंहरति—

(शाङ्करभाष्यम्) वेदाविनाशिनमिति—वेद विजानात्यविनाशिनमत्यन्ताभावविकाररहितं नित्यं विपरिणामरहितं यो वेदेति सम्बन्धः। एनं पूर्वेण मन्त्रेणोक्तलक्षणमजं जन्मरहितमव्ययमपक्षयरहितं कथं केन प्रकारेण स विद्वान्पुरुषोऽधिकृतो हन्ति हननक्रियां करोति, कथं वा घातयति हन्तारं प्रयोजयति। न कथञ्चित्कञ्चिद्धन्ति न कथञ्चित्कञ्चिद् घातयतीत्युभयत्राक्षेप एवार्थः, प्रश्नार्थासम्भवात्। हेत्वर्थस्य अविक्रियत्वस्य च तुल्यत्वाद्विदुषः सर्वकर्मप्रतिषेध एव प्रकरणार्थोऽभिप्रेतो भगवतः।

हन्तेस्त्वाक्षेप उदाहरणार्थत्वेन कथितः। विदुषः कं कर्मासम्भवे हेतुविशेषं पश्यन्कर्माण्याक्षिपति भगवान् कथं स पुरुष

इति । ननूक्त एवात्मनोऽविक्रियत्वं सर्वकर्मासम्भवकारणविशेषः सत्यमुक्तः, न तु स कारणविशेषोऽन्यत्वाद्विदुषोऽविक्रियादात्मनः । न ह्यविक्रियं स्थाणुं विदितवतः कर्म सम्भवतीति चेन्न, विदुष आत्मत्वात्, न देहादिसङ्घातस्य विद्वत्ता । अतः पारिशेष्याद-संहत आत्मा विद्वानविक्रिय इति तस्य विदुषः कर्मासम्भवादाक्षेपो युक्तः—कथं स पुरुष इति । तथा बुद्ध्याद्याहृतस्य शब्दाद्यर्थस्या-विक्रिय एव सन् बुद्धिवृत्त्यविवेकविज्ञानेनाविद्ययोपलब्धात्मा कल्प्यते, एवमेवात्मनात्मविवेकज्ञानेन बुद्धिवृत्त्या विद्ययाऽसत्यरू-पयैव परमार्थतोऽविक्रिय एवात्मा विद्वानुच्यते । विदुषः कर्मास-म्भववचनाद्यानि कर्माणि शास्त्रेण विधीयन्ते, तान्यविदुषो विहिता-नीति भगवतो निश्चयोऽवगम्यते ।

ननु विद्याऽप्यविदुष एव विधीयते, विदितविद्यस्य पिष्टपेषणवद्वि-द्याविधानानर्थक्यात् । तत्राविदुषः कर्माणि विधीयन्ते, न विदुष इति विशेषो नोपपद्यते इति चेन्न, अनुष्ठेयस्य भावाभावविशेषोपपत्तेः । अग्निहोत्रादिविध्यर्थज्ञानोत्तरकालमग्निहोत्रादिकर्मानेकसाधनोपसं-हारपूर्वकमनुष्ठेयं 'कर्ताऽहम्' 'मम कर्तव्यम्' इत्येवंप्रकारकविज्ञानव-तोऽविदुषो यथाऽनुष्ठेयं भवति, न तु तथा, न जायत इत्याद्यात्मस्वरू-पविध्यर्थज्ञानोत्तरकालभावि किञ्चिदनुष्ठेयं भवति । किन्तु 'नाहं कर्ता' 'नाहं भोक्ता' इत्याद्यात्मैकत्वाकर्तृत्वादिविषयज्ञानादन्यन्नोत्पद्यत इत्येष विशेष उपपद्यते । यः पुनः कर्ताऽहमिति वेत्त्यात्मानं तस्य ममेदं कर्तव्यमित्यवश्यम्भाविनी बुद्धिः स्यात्तदपेक्षया सोऽधि-

क्रियत इति तं प्रति कर्माणि सम्भवन्ति, स चाविद्वान् "उभौ तौ न विजानीतः" [गी० २ । १९] इति वचनात् । विशेषितस्य च विदुषः कर्माक्षेपवचनाच्च कथं स पुरुष इति ।

तस्माद्विशेषितस्याविक्रियात्मदर्शिनो विदुषो मुमुक्षोश्च सर्वकर्मसंन्यास एवाधिकारः । अतएव भगवान्नारायणः साङ्ख्यान्विदुषोऽविदुषश्च कर्मिणः प्रविभज्य द्वे निष्ठे ग्राहयति—"ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेण योगिनाम्" [गी० ३।३] तथा च पुत्रायाऽह भगवान् व्यासः—"द्वाविमावथ पन्थानौ" [म०भा०, शान्तिप० २४० । ६] इत्यादि ।

तथा च क्रियापथश्चैव पुरस्तात्पश्चात्संन्यासश्चेति । एतमेव विभागं पुनः पुनर्दर्शयिष्यति भगवान् । अतत्त्ववित् "अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते" [गी० ३ ।२७] तत्त्ववित्तु नाहं करोमीति । तथा च "सर्वकर्माणि मनसा सन्यस्यास्ते" [गी० ५ । १३] इत्यादि ।

तत्र केचित्पण्डितम्मन्या वदन्ति—जन्मादिषड्भावविक्रियारहितोऽविक्रियोऽकर्तैकोऽहमात्मेति न कस्यचिज्ज्ञानमुत्पद्यते यस्मिन्सति सर्वकर्मसन्यास उपदिश्यत इति, तन्न, "न जायते" इत्यादिशास्त्रोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गात् । यथा च शास्त्रोपदेशसामर्थ्याद्धर्माऽधर्मास्तित्वविज्ञानं कर्तुश्च देहान्तरसम्बन्धिविज्ञानं चोत्पद्यते, तथा शास्त्रात्तस्यैवात्मनोऽविक्रियत्वाकर्तृकत्वैकत्वादिविज्ञानं कस्मान्नोत्पद्यत इति प्रष्टव्यास्ते । करणागोचरत्वादिति चेन्न, "मन

सैवानुद्रष्टव्यम्" [बृ० ४,४,१९] इति श्रुतिः। शास्त्राचार्योपदेश-शमदमादिसंस्कृतं मन आत्मदर्शने करणम्। तथा च तदधिगमाया-नुमाने आगमे च सति ज्ञानं नोत्पद्यत इति साहसमात्रमेतत्। ज्ञानं चोत्पद्यमानं तद्विपरीतमज्ञानमवश्यं बाधत इत्यभ्युपगन्त-व्यम्। तच्चाज्ञानं दर्शितं हन्ताऽहं हतोऽस्मीति "उभौ तौ न विजानीतः" [गी० २,१९] इति। अत्र चात्मनो हननक्रियायाः कर्तृत्वं कर्मत्वं हेतुकर्तृत्वं चाज्ञानकृतं दर्शितम्। तच्च सर्वक्रिया-स्वपि समानम्, कर्तृत्वादेरविद्याकृतत्वमविक्रियत्वादात्मनः। विक्रि-यावान् हि कर्ताऽऽत्मनः कर्मभूतमन्यं प्रयोजयति कुर्विति। तदेतद-विशेषेण विदुषः सर्वक्रियासु कर्तृत्वं हेतुकर्तृत्वं च प्रतिषेध-ति भगवान् वासुदेवः विदुषः कर्माधिकाराभावप्रदर्शनार्थं 'वेदाविनाशिनं········कथं स पुरुषः पार्थ' इत्यादिना। क्व पुनर्विदुषोऽधिकार इत्येतदुक्तं पूर्वमेव "ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानाम्" [गी० ३,३] इति। तथा च सर्वकर्मसंन्यासं वक्ष्यति "सर्व-कर्माणि मनसा" [गी० ५,१३] इत्यादिना।

ननु मनसेति वचनान्न वाचिकानां कायिकानां च संन्यास इति चेन्न, सर्वकर्माणीति विशेषितत्वात्। मानसानामेव सर्वकर्मणामिति चेन्न, मनोव्यापारपूर्वकत्वाद्वाक्कायव्यापाराणां मनो व्यापाराभावे तदनुपपत्तेः। शास्त्रीयाणां वाक्कायकर्मणां कारणानि मानसानि कर्माणि वर्जयित्वाऽन्यानि सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते इति चेन्न, "नैव कुर्वन्न कारयन्" [गी० ५,१३] इति विशेषणात्।

सर्वकर्मसंन्यासोऽयं भगवतोक्तो मरिष्यतो न जीवित इति चेन्न, नवद्वारे पुरे देही······आस्ते [गी० ५, १३] इति विशेषणानुपपत्तेः । न हि सर्वकर्मसंन्यासेन मृतस्य तद्देह आसनं सम्भवति ।

अकुर्वतोऽकारयतश्च देहे संन्यस्येति सम्बन्धो न देह आस्त इति चेन्न, सर्वत्रात्मनोऽविक्रियत्वावधारणात् आसनक्रियायाश्चाधिकरणापेक्षत्वात्तदनपेक्षत्वाच्च संन्यासस्य । सम्पूर्वस्तु न्यासशब्दस्त्यागार्थो न निक्षेपार्थः । तस्माद् गीताशास्त्रे आत्मज्ञानवतः संन्यास एवाधिकारो न कर्मणि इति तत्र तत्रोपरिष्टादात्मज्ञानप्रकरणे दर्शयिष्यामः ॥२१॥

(श्रीधरीव्याख्या) वेदेति—नित्यं वृद्धिशून्यम्, अव्ययमपक्षयशून्यम्, अजमविनाशिनं च यो वेद स पुरुषः कं हन्ति कथं वा हन्ति, एवम्भूतस्य वधे साधनाभावात् । तथा स्वयं प्रयोजको भूत्वाऽन्येन कं घातयति । न कञ्चिदपि कथञ्चिदपीत्यर्थः । अनेन मय्यपि प्रयोजकत्वाद्दोषदृष्टिं मा कार्षीरित्युक्तं भवति ॥

(भावार्थबोधनी) वेदाविनाशिनं नित्यमिति—शास्त्रमें वर्तमानकालमें, जिससे पूर्वकी कर्मजाति मनमें और जातिकर्म भावमें आता है, उसका नाम वेद है । जैसे—शरीरके अन्दर मन वेद है । उसी तरह वनस्पतिके फलके अन्दर बीज भी वेद है । कर्मधर्मका जाति के अनुसार भोग होकर वर्तमान शरीरका नाश होता है । भूतकालकी क्रिया कर्म और जातिसे भविष्यमें फल और शरीर उत्पन्न होता है । यह बीज और मन नित्य है । फल

व्यय है, तथा शरीर अनित्य है। जैसे—शरीरमें पुरुषही वेदपुरुष है, उसी प्रकार बीजमें भी वेदपुरुष है। आमकी गुठली बो देने पर गुठलीरूपी शरीरका नाश होकर अङ्कुरसे फिर वही आम्र-बीज प्रादुर्भूत होता है। यही बीजरूपी वेदपुरुष है। इसी-को समझना चाहिये। यही ऊपरके श्लोकसे कहा गया है।

(२)

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

गीता, अ० ७, श्लो० २६

यत एवमतः—

(शाङ्करभाष्यम्) वेदेति——अहन्तु वेद जाने समतीतानि समतिक्रान्तानि भूतानि, वर्तमानानि चार्जुन, भविष्याणि च भूतानि वेदाहम्, मां तु वेद न कश्चन, मद्भक्तं मच्छरणमेकं मुक्त्वा मत्तत्त्ववेदनाभावादेव न मां भजते॥ २६॥

सर्वोत्तमं मत्स्वरूपमजानन्त इत्युक्तम्—तदेव स्वस्य सर्वो-त्तमत्वमनावृत्तज्ञानशक्तित्वेन दर्शयन्नन्येषामज्ञानमेवाह—

(श्रीधरीव्याख्या) वेदेति। समतीतानि विनष्टानि वर्तमानानि भावीनि च त्रिकालवर्तीनि भूतानि स्थावरजङ्गमानि सर्वाण्यहं वेद जानामि,मयायाऽश्रयत्वान्मम तस्याः स्वाश्रयव्यामोहकत्वा-भावादिति प्रसिद्धम्। मां तु न कोऽपि वेत्ति, मन्मायामोहितत्वात्। प्रसिद्धं हि लोके मायायाः स्वाश्रयाधीनत्वमन्यमोहकत्वं च॥२६॥

(भावार्थबोधिनी) वेदाहं समतीतानीति—बीज अपनी जातिके स्वभावसे बीजके समान ही अङ्कुर उत्पन्न करता है। और वर्तमान कालमें जो भाव था वह भूतसे आता है वही भविष्यमें जाता है। वह सर्वत्र सम है।

(३)

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

गीता, अ० ८, श्लो० २८

शृणु तस्य योगस्य माहात्म्यम्—

(शाङ्करभाष्यम्) वेदेष्विति। वेदेषु सम्यगधीतेषु, यज्ञेषु च साद्गुण्येनानुष्ठितेषु तपःसु च सुतप्तेषु दानेषु च सम्यग्दत्तेषु, एतेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टं शास्त्रेणात्येत्यतीत्य गच्छति तत्सर्वं फलजातम्, इदं विदित्वा सप्तप्रश्ननिर्णयद्वारेणोक्तमर्थं सम्यगवधार्यानुष्ठाय योगी परं प्रकृष्टमैश्वरं स्थानमुपैति च प्रतिपद्यते, आद्यमादौ भवम्, कारणं ब्रह्मेत्यर्थः॥ २८॥

अध्यायार्थमष्टप्रश्नार्थनिर्णयं सफलमुपसंहरति—

(श्रीधरीव्याख्या) वेदेष्विति। वेदेष्वध्ययनादिभिः, यज्ञेष्वनुष्ठानादिभिः, तपःसु कायशोषणादिभिः, दानेषु सत्पात्रार्पणादिभिः, यत्पुण्यफलमुपदिष्टं शास्त्रेषु तत्सर्वमत्येति ततोऽपि श्रेष्ठं

योगैश्वर्यं प्राप्नोति । किं कृत्वा । इदमष्टप्रश्नार्थनिर्णयेनोक्तं तत्त्वं विदित्वा ततश्च योगी ज्ञानी भूत्वा परमुत्कृष्टमाद्यं जगन्मूलभूतस्थानं विष्णोः परमं पदं प्राप्नोति ॥ २८ ॥

(भावार्थबोधिनी) वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव इति—वह बीजका अङ्कुर यज्ञ और तपसे बढ़कर वृक्ष बनता है। फिर वही पृथ्वीके रसको लेकर अपने स्वभावसे फल दिखाता है। यही सब वृक्षोंमें तथा शरीरमें स्व-स्वभावके अनुकूल पूर्वके योगसे (जैसा बीजका स्वभाव था वैसा ही) वर्तमानमें वृक्ष तथा शरीर बनता है।

(४)

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥

गीता, अ० १०, श्लो० २२

(शाङ्करभाष्यम्) वेदानामिति—वेदानां मध्ये सामवेदोऽस्मि । देवानां रुद्रादित्यादीनां वासव इन्द्रोऽस्मि । इन्द्रियाणामेकादशानां चक्षुरादीनां मनश्चास्मि सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनश्चास्मि । भूतानामस्मि चेतना कार्यकरणसङ्घाते नित्याऽभिव्यक्ता बुद्धिवृत्तिश्चेतना ॥ २२ ॥

(श्रीधरीव्याख्या) वेदानामिति—वासव इन्द्रः । भूतानां सम्बन्धिनी चेतना ज्ञानशक्तिरहमस्मि ॥ २२ ॥

(भावार्थबोधिनी) वेदानां सामवेदोऽस्मि इति—वेदोंमें पूर्व-कर्मसे सामवेद मैं हूँ। देवोंमें बलसे इन्द्र मैं हूँ। इन्द्रियोंमें मन मैं हूँ और प्राणियोंकी आत्मासे चेतन मैं हूँ।

(५)

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

गीता, अ० २, श्लो० ४५

य एवं विवेकबुद्धिरहितास्तेषां कामात्मनां यत्फलं तदाह—

(शाङ्करभाष्यम्) त्रैगुण्येति। त्रैगुण्यविषयास्त्रैगुण्यं संसारो विषयः प्रकाशयितव्यो येषां ते वेदास्त्रैगुण्यविषयाः। त्वं तु निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन निष्कामो भवेत्यर्थः। निर्द्वन्द्वः सुखदुःख-हेतू सप्रतिपक्षौ पदार्थौ द्वन्द्वशब्दवाच्यौ ततो निर्गतो निर्द्वन्द्वो भव। त्वं नित्यसत्त्वस्थः सदासत्त्वगुणाश्रितो भव। तथा निर्योगक्षेमोऽनुपात्तस्योपादानं योगः, उपात्तस्य रक्षणं क्षेमः, योगक्षेमप्रधानस्य श्रेयसि प्रवृत्तिर्दुष्करेत्यतो निर्योगक्षेमो भव। आत्मवानप्रमत्तश्च भव। एष तवोपदेशः स्वधर्ममनुतिष्ठतः॥४५॥

ननु च यदि स्वर्गादिकं परमं फलं न भवति तर्हि किमिति वेदैस्तत्साधनतया कर्माणि विधीयन्ते तत्राह—

(श्रीधरीव्याख्या) त्रैगुण्यविषया इति। त्रिगुणात्मकाः सकामा येऽधिकारिणस्तद्विषयास्तेषां कर्मफलसम्बन्धप्रतिपादकाः

वेदाः । त्वं तु निस्त्रैगुण्यो निष्कामो भव । तत्रोपायमाह—निर्द्वन्द्वः सुखदुःखशीतोष्णादियुगलानि द्वन्द्वानि तद्रहितो भव । तानि सहस्वेत्यर्थः । कथमित्यत्राह—नित्यसत्त्वस्थः सन् धैर्यमवलम्ब्येत्यर्थः । तथा निर्योगक्षेमः । अप्राप्तस्वीकारो योगः, प्राप्तपरिपालनं क्षेमस्तद्रहितः । आत्मवान् अप्रमत्तः । नहि द्वन्द्वाकुलस्य योगक्षेमव्यापृतस्य च प्रमादिनस्त्रैगुण्यातिक्रमः सम्भवतीति ॥ ४५ ॥

(भावार्थबोधिनी) त्रैगुण्यविषया वेदाः—वेद तीन गुणोंका विषय है । जैसे कर्म, धर्म और फल । वेदमें पूर्वका कर्म है, उसीके अनुकूल शरीर बनता है । शरीरके धर्मसे बाह्य वस्तुमें प्रिय और अप्रिय बोध होकर फलका भोग होता है । वही सामने आता है और कर्तव्य बनता है । उसी क्रियाको करना चाहिये । प्रिय और अप्रियको समझकर कर्तव्यका त्याग न करना चाहिये ।

(६)

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

गी० अ० ८, श्लो० ११

पुनरपि वक्ष्यमाणेनोपायेन प्रतिपित्सितस्य ब्रह्मणो वेदविद्वदनादिविशेषणविशेष्याभिधानं करोति भगवान्—

(शाङ्करभाष्यम्) यदिति । यदक्षरं न क्षरतीत्यक्षरमविनाशि वेदविदो वेदार्थज्ञा वदन्ति "तद्वा एतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति" [बृ. ३. ८. ८] इति श्रुतेः । सर्वविशेषनिवर्तक-

त्वेनाभिवदन्ति "अस्थूलमनणु" [बृ. ३. ८. ८] इत्यादि। किञ्च विशन्ति प्रविशन्ति सम्यग् दर्शनप्राप्तौ सत्यां यद्यतयो यतनशीलाः संन्यासिनो वीतरागा वीतो विगतो रागो येभ्यस्ते वीतरागाः। यच्चाक्षरमिच्छन्तो ज्ञातुमिति वाक्यशेषः, ब्रह्मचर्यं गुरौ चरन्ति आचरन्ति तत्ते पदं तदक्षराख्यं पदं पदनीयं ते तुभ्यं सङ्ग्रहेण सङ्ग्रहः सङ्क्षेपस्तेन सङ्क्षेपेण प्रवक्ष्ये कथयिष्यामि ॥ ११ ॥

केवलादभ्यासयोगादपि प्रणवाधारमभ्यासमन्तरङ्गं विधित्सुः प्रतिजानीते।

(श्रीधरीव्याख्या) यदक्षरमिति। यदक्षरं वेदान्तज्ञा वदन्ति "एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इति श्रुतेः। वीतो रागो येभ्यस्ते वीतरागा यतयः प्रयत्नवन्तो यद्विशन्ति। यच्च ज्ञातुमिच्छन्तो गुरुकुले ब्रह्मचर्यं चरन्ति। तत्ते तुभ्यं पदं पद्यते गम्यते इति पदं प्राप्यं सङ्ग्रहेण सङ्क्षेपेण प्रवक्ष्ये तत्प्राप्त्युपायं कथयिष्यामीत्यर्थः ॥ ११ ॥

(भावार्थबोधिनी) यदक्षरं वेदविदो वदन्ति। वर्तमान शरीरमें (अक्षरमन) पूर्वके कर्मसे वेद है। वही बोलता है, और वही सुनता है। विषयको वीतराग होकर देखता है। पूर्वमें ब्रह्ममें जैसा आचार धारण किया है, वैसाही करता है, और कराता है।

(७)

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥

गीता, अ० ११, श्लो० ४८

। आत्मनो मम रूपदर्शनेन कृतार्थ एव त्वं संवृत्त इति तत्स्तौति—

(शाङ्करभाष्यम्) न वेदेति। न वेदयज्ञाध्ययनैः चतुर्णामपि वेदानामध्ययनैर्यथावद्यज्ञाध्ययनैश्च, वेदाध्ययनैरेव यज्ञाध्ययनस्य सिद्धत्वात्पृथग्यज्ञाध्ययनग्रहणं यज्ञविज्ञानोपलक्षणार्थम्, तथा न दानैस्तुलापुरुषादिभिः, न च क्रियाभिरग्निहोत्रादिभिः श्रौतादिभिः, नापि तपोभिरुग्रैश्चान्द्रायणादिभिरुग्रैर्घोरैः, एवंरूपो यथादर्शितं विश्वरूपं यस्य सोऽहमेवंरूपः न शक्योऽहं नृलोके मनुष्यलोके द्रष्टुं त्वदन्येन त्वत्तोऽन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

एतद्दर्शनमतिदुर्लभं लब्ध्वा त्वं कृतार्थोऽसीत्याह—

(श्रीधरीव्याख्या) नेति—वेदाध्ययनातिरेकेण यज्ञाध्ययनस्याभावात् यज्ञशब्देन यज्ञविद्याः कल्पसूत्राद्या लक्ष्यन्ते। वेदानां यज्ञविद्यानां चाध्ययनैरित्यर्थः। न च दानैर्न च क्रियाभिरग्निहोत्रादिभिर्न चोग्रैस्तपोभिश्चान्द्रायणादिभिरेवंरूपोऽहं त्वदन्येन मनुष्यलोके द्रष्टुं शक्यः। अपि तु त्वमेव केवलं मत्प्रसादेन दृष्ट्वा कृतार्थोऽसि ॥ ४८ ॥

(भावार्थबोधिनी) न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैरिति—शरीरमें मन और भाव ये दो हैं। भाव तो सामनेके विषयको देखता है, और मन भावके देखे हुए विषयको अपनेमें रखता है। भूतकालकी वस्तुको मन जानता है, भाव नहीं जानता। भविष्यमें भूतकालकी बात कहता

है। इससे भावका सम्बोधन करके मन कहता है कि—किये हुए कर्मको तुम नहीं जानते, मैं जानता हूँ।

(८)

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

गी० अ० ११, श्लो० ५३

कस्मात्—

(शाङ्करभाष्यम्) नाहमिति। नाहं वेदैर्ऋग्यजुःसामाथर्ववेदैश्चतुर्भिरपि न तपसोग्रेण चान्द्रायणादिना, न दानेन गोभूहिरण्यादिना, न चेज्यया यज्ञेन पूजया वा शक्य एवंविधो यथादर्शितप्रकारो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा त्वम्॥ ५३॥

तत्र हेतुः—

(श्रीधरीव्याख्या) नाहमिति—स्पष्टार्थः॥ ५३॥

(भावार्थबोधिनी) नाहं वेदैर्न तपसा इति। शरीर में मन कहता है कि भूतकालका विषय तुम्हारे सामने आता है, पर उसे तुम नहीं जानते, मैं उसका रूप और गुण जानता हूँ।

(९)

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥

गीता, अ० २, श्लो० ४२

येषां व्यवसायात्मिका बुद्धिर्नास्ति ते—

(शाङ्करभाष्यम्) यामिति—यामिमां वक्ष्यमाणां पुष्पितां पुष्पितवृक्ष इव शोभमानां श्रूयमाणरमणीयां वाचं वाक्यलक्षणां प्रवदन्ति । के ? अविपश्चितोऽल्पमेधसोऽविवेकिन इत्यर्थः । वेदवादरता बह्वर्थवादफलसाधनप्रकाशकेषु वेदवाक्येषु रताः, हे पार्थ ! नान्यत् स्वर्गपश्वादिफलसाधनेभ्यः कर्मभ्योऽस्तीत्येवंवादिनो वदनशीलाः ॥ ४२ ॥

ननु कामिनोऽपि कस्मात्कामान्विहाय व्यवसायात्मिकामेव बुद्धिं किं न कुर्वन्ति तत्राह—

(श्रीधरीव्याख्या) यामिति—पुष्पितां पुष्पितविषलतावदापातरमणीयां प्रकृष्टां परमार्थफलपरामेव वदन्ति वाचं स्वर्गादिफलश्रुतिं ये तेषां तया वाचाऽपहृतचेतसां व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयत इति तृतीयेनान्वयः । किमिति तथा वदन्ति यतोऽविपश्चितो मूढाः । तत्र हेतुः—वेदे ये वादा अर्थवादाः "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" "अपाम सोमममृता अभूम" इत्याद्यास्तेष्वेव रताः प्रीताः । अतएव अतः परमन्यदीश्वरतत्त्वं प्राप्यं नास्तीति वदनशीलाः ॥ ४२ ॥

(भावार्थबोधिनी) यामिमां पुष्पितां वाचमिति—वर्तमान शरीरमें पूर्वके कर्मका ज्ञान और शब्द पुष्पकी जगह है, और उससे फल विषय होता है । और वह दूसरे शरीरका

विषय होता है। इसलिए वह अपने वेदके फलमें रत है। वही फलको विषय करके भोगता है, और दूसरे विषयका वाद करता है।

(१०)

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

गीता, अ० २, श्लो० ४६

सर्वेषु वेदोक्तेषु कर्मसु यान्युक्तान्यनन्तानि फलानि तानि नापेक्ष्यन्ते चेत्किमर्थं तानीश्वरायेत्यनुष्ठीयन्त इति उच्यते शृणु–

(शाङ्करभाष्यम्) यावानिति। यथा लोके कूपतडागाद्यनेकस्मिन्नुदपाने परिच्छिन्नोदके यावान् यावत्परिमाणः स्नानपानादिरर्थः फलं प्रयोजनं स सर्वोऽर्थः सर्वतः संप्लुतोदकेऽपि तावानेव सम्पद्यते तत्रान्तर्भवतीत्यर्थः। एवं तावांस्तावत्परिमाण एव सम्पद्यते सर्वेषु वेदेषु वेदोक्तेषु कर्मसु योऽर्थो यत्कर्मफलं सोऽर्थो ब्राह्मणस्य संन्यासिनः परमार्थतत्त्वं विजानतो योऽर्थो यद्विज्ञानफलं सर्वतः सम्प्लुतोदकस्थानीयं तस्मिंस्तावानेव सम्पद्यते तत्रैवान्तर्भवतीत्यर्थः। "यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद् वेद यत्स वेद" [छां० ४, १, ४] इति श्रुतेः, "सर्वं कर्माखिलम्" [गी० ४, ३३] इति च वक्ष्यति। तस्मात्प्राग्ज्ञाननिष्ठाधिकारप्राप्तेः कर्मण्यधिकृतेन कूपतडागाद्यर्थस्थानीयमपि कर्म कर्तव्यम् ॥ ४६ ॥

ननु वेदोक्तनानाफलपरित्यागेन निष्कामतयेश्वराराधनविषया व्यवसायात्मिकाबुद्धिस्तु कुबुद्धिरेवेत्याशङ्क्याऽऽह—

(श्रीधरीव्याख्या) यावानिति । उदकं पीयतेऽस्मिन्नित्युदपानं वापीकूपतडागादि तस्मिन् स्वल्पोदके एकत्र कृत्स्नस्यार्थस्याभावात्तत्र तत्र परिभ्रमणेन विभागशो यावान्स्नानपानादिरर्थः प्रयोजनं भवति, तावान्सर्वोऽप्यर्थः सर्वतः सम्प्लुतोदके महाह्रदे एकत्रैव यथा भवति, एवं यावान्सर्वेषु वेदेषु तत्तत्कर्मफलरूपोऽर्थस्तावान्सर्वोऽपि विजानतो व्यवसायात्मकबुद्धियुक्तस्य ब्राह्मणस्य ब्रह्मनिष्ठस्य भवत्येव, ब्रह्माऽऽनन्दे क्षुद्राऽऽनन्दानामन्तर्भूतत्वात् "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इति श्रुतेः। तस्मादियमेव बुद्धिः सुबुद्धिरित्यर्थः ॥४६॥

(भावार्थबोधिनी) यावानर्थ उदपाने । यावान् यानी संसारमें सारा विषय जगत्के अनुकूल (अर्थ) होता है । प्रत्येक शरीरमें पूर्व संस्कारके अनुकूल वह वेद रहता है । वही ब्राह्मण है, और वही जानता है । वर्तमानमें संसार एक समुद्रकी तरह है । पुरुष कूपकी जगह है, और स्त्री वापीकी जगह है । पुरुषका कार्य त्याग कर्म है, और स्त्रीका कार्य ग्रहण करना है । कूप अपने जलको ऊपरसे ग्रहण करनेवालोंके लिए त्याग करता है । वावड़ी ऊपरसे मेघका तथा भीतरसे कूपका भी जल ग्रहण करती है । समुद्रका कार्य सबकी परस्पर सहायता करना है । इसी दृष्टान्तके अनुसार पुरुष और स्त्रीका व्यवहार है ।

(११)

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥

गीता, अ० २, श्लो० ५२

योगानुष्ठानजनितसत्त्वशुद्धिजा बुद्धिः कदा प्राप्स्यत इत्युच्यते—

(शाङ्करभाष्यम्) यदेति । यदा यस्मिन्काले ते तव मोहकलिलं मोहात्मकमविवेकरूपं कालुष्यं येनात्मानात्मविवेकबोधं कलुषीकृत्य विषयं प्रत्यन्तःकरणं प्रवर्तते तत्तव बुद्धिर्व्यतितरिष्यति व्यतिक्रमिष्यति अतिशुद्धभावमापत्स्यत इत्यर्थः । तदा तस्मिन् काले गन्ताऽसि प्राप्स्यसि निर्वेदं वैराग्यं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च, तदा श्रोतव्यं श्रुतं च ते निष्फलं प्रतिपद्यत इत्यभिप्रायः ॥ ५२ ॥

कदा तत्पदमहं प्राप्स्यामीत्यपेक्षायामाह—

(श्रीधरीव्याख्या) यदेति द्वाभ्याम् । मोहो देहादिष्वात्मबुद्धिः तदेव कलिलम् । "कलिलं गहनं विदुः" इत्यभिधानकोशस्मृतेः । ततश्चायमर्थः—एवं परमेश्वराराधने क्रियमाणे यदा तत्प्रसादेन तव बुद्धिर्देहाभिमानलक्षणं मोहमयं गहनं दुर्गं विशेषेणातितरिष्यति तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य चार्थस्य निर्वेदं वैराग्यं गन्तासि प्राप्स्यसि । तयोरनुपादेयत्वेन जिज्ञासां न करिष्यसीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

(भावार्थबोधिनी) यदा ते मोहकलिलमिति । शरीरके भावमें मोह है । संसाररूपी वन गहन है इसलिए यह अपने

प्रयोजनकी वस्तु पहिचान नहीं सकता (अर्थात् सुन नहीं सकता और सुने विना देख नहीं सकता)। जब आत्मा बुद्धिमें निश्चय करावेगा तब प्रयोजन सिद्ध होता है। वह पूर्वके कर्मसे आत्मबुद्धिश्रुतिद्वारा निश्चय करनेपर अपने प्रयोजनके अनुसार उस गहन वनको पार करता है।

(१२)

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥

गीता, अ० ४, श्लो० ५

या वासुदेवेऽनीश्वरासर्वज्ञाशङ्का मूर्खाणां तां परिहरञ्श्रीभगवानुवाच यदर्थो ह्यर्जुनस्य प्रश्नः—

(शाङ्करभाष्यम्) बहूनीति। बहूनि मे मम व्यतीतान्यतिक्रान्तानि जन्मानि तव च हे अर्जुन। तान्यहं वेद जाने सर्वाणि न त्वं वेत्थ न जानीषे धर्माधर्मादिप्रतिबद्धज्ञानशक्तित्वात्। अहं पुनर्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वादनावरणज्ञानशक्तिरिति वेदाहं हे परन्तप ॥ ५ ॥

इति पृष्टवन्तमर्जुनं रूपान्तरेणोपदिष्टवानित्यभिप्रायेणोत्तरम्—श्रीभगवानुवाच।

(श्रीधरीव्याख्या) बहूनीति। मम बहूनि जन्मानि तव च व्यतीतानि। तानि सर्वाण्यहं वेद जानामि, अलुप्तविद्याशक्तित्वात्। त्वं तु न वेत्थ न जानासि, अविद्यावृतत्वात् ॥ ५ ॥

(भावार्थबोधिनी) बहूनि मे व्यतीतानीति—शरीरमें ग्रहण करनेवाली ज्ञानेन्द्रिय हैं, और त्यागकर्म करनेवाली कर्मेन्द्रिय हैं। इनको ही भावशब्दसे कहा गया है। वह भाव वर्तमानकालका बोधक है। और मन भूत और भविष्यत् का बोधक है। वह भावके द्वारा वर्तमानका ज्ञान करता है। भूतकालिकज्ञान चित्त द्वारा होता है। मन नित्य है और भाव अनित्य है। दोनों इस शरीरमें हैं। और मन दूसरा शरीर बनाता है। वह कर्मरूपी वेद मन है। यही बात इस श्लोकसे ध्वनित है।

(१३)

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥

गीता, अ० ७, श्लो० ८

केन केन धर्मेण विशिष्टे त्वयि सर्वमिदं प्रोतमित्युच्यते—

(शाङ्करभाष्यम्) रस इति। रसोऽहमपां यः सारः स रसस्तस्मिन्रसभूते मय्यापः प्रोता इत्यर्थः। एवं सर्वत्र। यथाऽहमप्सु रसः, एवं प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। प्रणव ओंकारः सर्ववेदेषु, तस्मिन् प्रणवभूते मयि सर्वे वेदाः प्रोताः। तथा खे आकाशे शब्दः सारभूतः, तस्मिन् मयि खं प्रोतम्। तथा पौरुषं पुरुषस्य भावो पौरुषं यतः पुंबुद्धिर्नृषु, तस्मिन्मयि पुरुषाः प्रोताः॥ ८॥

जगतः स्थितिहेतुत्वं प्रपञ्चयति—

(श्रीधरीव्याख्या) रसोऽहमिति पञ्चभिः। अप्सु रसोऽहम्। रसतन्मात्ररूपया विभूत्या तदाश्रयत्वेनाप्सु स्थितोऽहमित्यर्थः।

तथा शशिसूर्ययोः प्रभास्मि चन्द्रेऽर्के च प्रकाशरूपया विभूत्या तदाश्रयत्वेन स्थितोऽहमित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । सर्वेषु वेदेषु वैखरीरूपेषु तन्मूलभूतः प्रणव ओंकारोऽस्मि । खे आकाशे शब्दतन्मात्ररूपोऽस्मि । नृषु पुरुषेषु पौरुषमुद्यमोऽस्मि । उद्यमे हि पुरुषास्तिष्ठन्ति ॥ ८ ॥

(भावार्थबोधिनी) रसोऽहमप्सु कौन्तेय—आत्मा (अहम्) रूप, ब्रह्म "रस" स्वरूप, और पुरुष "विषय" स्वरूप है । शरीरकर्मके भेदसे मन और प्राण पूर्वकर्मके स्वरूपसे रस बनकर शरीरका धारण और प्रकाश करता है । वह वेदमें ओंकार और प्रणव है । वही शब्द सुनता है और वही पुरुष-विशेषसे अर्थ भोगता है ।

(१४)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

गीता, अ० १५, श्लो० १५

किञ्च—

(शाङ्करभाष्यम्) सर्वस्येति । सर्वस्य प्राणिजातस्याहमात्मा सन् हृदि बुद्धौ संनिविष्टः । अतो मत्त आत्मनः सर्वप्राणिनां स्मृतिर्ज्ञानं तदपोहनम् अपगमनं च । येषां यथा पुण्यकर्मणां पुण्य-कर्मानुरोधेन ज्ञानस्मृती भवतः, तथा पापकर्मणां पापकर्मानु-रूपेण स्मृतिज्ञानयोरपोहनं च अपायनमपगमनं च । वेदैश्च सर्वैर-

हमेव परमात्मा वेद्यो वेदितव्यः । वेदान्तकृद्वेदान्तार्थसम्प्रदायकृदित्यर्थः । वेदविद्वेदार्थविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

किञ्च—

(श्रीधरीव्याख्या) सर्वस्येति । सर्वस्य प्राणिजातस्य हृदि सम्यगन्तर्यामिरूपेण प्रविष्टोऽहम् । अतश्च मत्त एव हेतोः प्राणिमात्रस्य पूर्वानुभूतार्थविषया स्मृतिर्भवति । ज्ञानं च विषयेन्द्रियसंप्रयोगजं भवति । अपोहनं च तयोः प्रमोषो भवति । वेदैश्च सर्वैस्तत्तद्देवतादिरूपेणाहमेव वेद्यः । वेदान्तकृत्तत्सम्प्रदायप्रवर्तकश्च ज्ञानदो गुरुरहमित्यर्थः । वेदविदेव च वेदार्थविदहमेव ॥ १५ ॥

(भावार्थबोधिनी) सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट इति—सब शरीरोंमें जाठराग्निके योगसे प्राण होकर (जड़ और चेतनके) हृदयमें पूर्वकर्मका मत लेकर वर्तमानमें पूर्वानुभूतकी स्मृति करता है । वह सब वेदोंमें रहकर वेदना करता है । पूर्वकर्मका भोग भोगकर उसका क्षय होता है, और आगेकी उत्पत्ति करता है । इसीसे शरीरका नाम वेदान्त है ।

(१५)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

गीता, अ० १५, श्लो० १८

यथा व्याख्यातस्येश्वरस्य पुरुषोत्तम इत्येतन्नाम प्रसिद्धम्। तस्य नाम निर्वचनप्रसिद्ध्या अर्थवत्त्वं नाम्नो दर्शयन् निरतिशयोऽहमीश्वर इत्यात्मानं दर्शयति भगवान्—

(शाङ्करभाष्यम्) यस्मादिति। यस्मात्क्षरमतीतोऽहं संसारमायावृक्षमश्वत्थाख्यमतिक्रान्तोऽहमक्षरादपि संसारमायावृक्षबीजभूतादपि चोत्तमः उत्कृष्टतमः ऊर्ध्वतमो वा, अतः ताभ्यां क्षराक्षराभ्यामुत्तमत्वादस्मि लोके वेदे च प्रथितः प्रख्यातः। पुरुषोत्तम इत्येवं मां भक्तजना विदुः। कवयः काव्यादिषु च इदं नाम निबध्नन्ति, पुरुषोत्तम इत्यनेनाभिधानेनाभिगृणन्ति ॥ १८ ॥

एवंभूतं पुरुषोत्तमत्वमात्मनो नाम निर्वचनेन दर्शयति—

(श्रीधरीव्याख्या) यस्मादिति। यस्मात्क्षरं जडवर्गमतिक्रान्तोऽहं नित्यमुक्तत्वात्। अक्षराच्चेतनवर्गादप्युत्तमश्च नियन्तृत्वात्। अतो लोके वेदे च पुरुषोत्तमः इति प्रथितः प्रख्यातोऽस्मि। तथा च श्रुतिः—'स वा अयमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति' इत्यादिः ॥ १८ ॥

(भावार्थबोधिनी) यस्मात्क्षरमतीतोऽहमिति—इसलिए नाशको छोड़कर और पुरुषार्थको धारणकर लोक तथा वेदमें मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

(१९)

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥
गीता, अ० १७, श्लो० २३

यज्ञदानतपःप्रभृतीनां सादुगुण्यकरणायायमुपदेश उच्यते—

(शाङ्करभाष्यम्) ॐ इति । ॐ तत्सत् इत्येवं निर्देशो, निर्दिश्यतेऽनेनेति निर्देशः, त्रिविधो नामनिर्देशो ब्रह्मणः स्मृतश्चिन्तितो वेदान्तेषु ब्रह्मविद्भिः । ब्राह्मणस्तेन निर्देशेन त्रिविधेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता निर्मिताः पुरा पूर्वमिति निर्देशस्तुत्यर्थमुच्यते ॥ २.३॥

ननु चैवं विचार्यमाणे सर्वमपि यज्ञतपोदानादि राजसतामसप्रायमेवेति व्यर्थो यज्ञादिप्रयासो इत्याशङ्क्य तथाविधस्यापि सात्त्विकत्वापादनप्रकारं दर्शयितुमाह—

(श्रीधरीव्याख्या) ओमिति । ॐ तत्सदित्येवं त्रिविधो ब्रह्मणः परमात्मनो निर्देशो नाम व्यपदेशस्मृतः शिष्टैः । तत्र तावत् 'ओमिति त्रिवृद्ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेरोमिति ब्रह्मणो नाम, जगत्कारणत्वेनातिप्रसिद्धत्वात्, अविदुषां परोक्षत्वाच्च । तच्छब्दोऽपि ब्रह्मणो नाम । परमार्थसत्त्वसाधुत्वप्रशस्तत्वादिभिः सच्छब्दो ब्रह्मणो नाम 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतेः । अयं त्रिविधोऽपि नामनिर्देशो विगुणमपि सगुणकर्तुं समर्थ इत्याशयेन स्तौति । तेन त्रिविधेन ब्रह्मणो निर्देशेन ब्राह्मणाश्च वेदाश्च यज्ञाश्च पूर्वं सृष्ट्यादौ विहिताः विधात्रा निर्मिताः सगुणीकृता या। यद्वा यस्यायं त्रिविधो निर्देशस्तेन परमात्मना ब्राह्मणादयः पवित्रतमाः सृष्टाः । तस्मात्तस्यायं त्रिविधो निर्देशोऽतिप्रशस्त इत्यर्थः ॥२३॥

(भावार्थबोधिनी) ॐ तत्सदिति—भूतकालके निर्देशसे वर्तमानका शरीर है । उसकी विधिको ज्ञानरूपी ब्राह्मण स्मरण करता है । उसी वेदसे ब्राह्मण यज्ञपुरीको अनुकूल चलाता है ।

(१७)

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

गीता, अ० २, श्लो० २९

दुर्विज्ञेयोऽयं प्रकृत आत्मा किं त्वामेवैकमुपालभे साधारणे भ्रान्तिनिमित्ते । कथं दुर्विज्ञेयोऽयमात्मेत्यत आह—

(शाङ्करभाष्यम्) आश्चर्यवदिति । आश्चर्यवदाश्चर्यमदृष्टपूर्वमद्भुतमकस्माद् दृश्यमानं तेन तुल्यमाश्चर्यवदाश्चर्यमिवैनमात्मानं पश्यति कश्चित् । आश्चर्यवदेनं वदति तथैव चान्यः । आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति । श्रुत्वा दृष्ट्वोक्त्वाप्येनं आत्मानं वेद न चैव कश्चित् । अथवा योऽयमात्मानं पश्यति स आश्चर्यतुल्यो यो वदति यश्च शृणोति सोऽनेकसहस्रेषु कश्चिदेव भवति । अतो दुर्बोध आत्मेत्यभिप्रायः ॥ २९ ॥

कुतस्तर्हि विद्वांसोऽपि लोके शोचन्ति, आत्मा ज्ञानादेवेत्याशयेनात्मनो दुर्विज्ञेयतामाह—

(श्रीधरीव्याख्या) आश्चर्यवदिति । कश्चिदेनमात्मानं शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां पश्यन्नाश्चर्यवत्पश्यति । सर्वगतस्य नित्यज्ञानानन्दस्वभावस्यात्मनोऽलौकिकत्वादैन्द्रजालिकवद्घटमानं पश्यन्निव विस्मयेन पश्यति असम्भावनाभिभूतत्वात् । तथा आश्च-

र्यवदन्यो वदति च। शृणोति चान्यः। कश्चित्पुनर्विपरीतभावनाभिभूतः श्रुत्वापि नैव वेद। चशब्दादुक्त्वापि दृष्ट्वापि न सम्यग्वेदेति द्रष्टव्यम् ॥ २९ ॥

(भावार्थबोधिनी) आश्चर्यवदिति—शरीरमें पूर्वकर्मका ज्ञान चित्तमें रहता है। उसका नाम वेद है। वर्तमान शरीरमें विपयका ज्ञान होने से गुणका ज्ञान नहीं होता। इसलिए बोलनेमें, सुननेमें और देखनेमें आश्चर्य करता है। शरीरोंके भेदसे ही आश्चर्य है।

(१८)

श्री भगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

गीता, अ० १५, श्लो० १

यस्मात् मदधीनं कर्मिणां कर्मफलं ज्ञानिनां च ज्ञानफलं, अतो भक्तियोगेन मां ये सेवन्ते ते मत्प्रसादाज्ज्ञानप्राप्तिक्रमेण गुणातीता मोक्षं गच्छन्ति। किमु वक्तव्यमात्मनस्तत्त्वमेव सम्यग्विजानन्त इत्यतो भगवान् अर्जुनेनापृष्टोऽपि आत्मनस्तत्त्वं विवक्षुरुवाच। ऊर्ध्वमूलमित्यादिना तत्र तावद्वृक्षरूपककल्पनया वैराग्यहेतोः संसारस्वरूपं वर्णयति। विरक्तस्य हि संसाराद्भगवत्तत्त्वज्ञानेऽधिकारो नान्यस्येति—

(शाङ्करभाष्यम्) ऊर्ध्वमूलमिति । ऊर्ध्वमूलं कालतः सूक्ष्मत्वात्कारणत्वान्नित्यत्वान्महत्वाच्चोर्ध्वम्, उच्यते ब्रह्म अव्यक्तं मायाशक्तिमत्, तन्मूलमस्येति सोऽयं संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः। श्रुतेश्च—"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख: एषोऽश्वत्थः सनातनः" [कठ ६, १] इति । पुराणे च—

"अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोच्छ्रितः ।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः ॥
महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा ।
धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः ॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ।
एतद्ब्रह्मवनं चैव ब्रह्मा चरति नित्यशः ॥
एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना ।
ततश्चात्मरतिं प्राप्य तस्मान्नावर्तते पुनः ।"

[मभा० अश्व० ४७, १२, १५] इत्यादि । तमूर्ध्वमूलं संसारं मायामयं वृक्षमधःशाखं महदहङ्कारतन्मात्रादयः शाखा इवास्याधो भवन्तीति सोऽयमधःशाखस्तमधःशाखं, न श्वोऽपि स्थाता इत्यश्वत्थस्तं क्षणप्रध्वंसिनमश्वत्थं प्राहुः कथयन्ति अव्ययं संसारमायायाः अनादिकालप्रवृत्तत्वात्सोऽयं संसारवृक्षोऽव्ययो अनाद्यनन्त देहादिसंतानाश्रयो हि सुप्रसिद्धः, तमव्ययम् । तस्यैव संसारवृक्षस्येदमन्यद्विशेषणं छन्दांसि यस्य पर्णानि छादनात् ऋग्यजुःसामलक्षणानि यस्य संसारवृक्षस्य पर्णानीव पर्णानि । यथा वृक्षस्य

परिरक्षणार्थानि पर्णानि, तथा वेदाः संसारवृक्षपरिरक्षणार्थाः, धर्माधर्मतद्धेतुफलप्रदर्शनार्थत्वात् । यथा व्याख्यातं संसारवृक्षं समूलं यस्तं वेद स वेदवित् वेदार्थविदित्यर्थः । नहि समूलात् संसारवृक्षादस्माज्ज्ञेयोऽन्योऽणुमात्रोऽप्यवशिष्टोऽस्त्यतः सर्वज्ञः सर्ववेदार्थविदिति समूलसंसारवृक्षज्ञानं स्तौति ॥ १ ॥

पूर्वाध्यायान्ते 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते' इत्यादिना परमेश्वरमेकान्तभक्त्या भजतस्तत्प्रसादलब्धज्ञानेन ब्रह्मभावो भवतीत्युक्तम्, नचैकान्तभक्तिर्ज्ञानं वाऽविरक्तस्य संभवतीति वैराग्यपूर्वकं ज्ञानमुपदेष्टुकामः प्रथमं तावत्सार्धश्लोकाभ्यां संसारस्वरूपं वृक्षरूपकालङ्कारेण वर्णयन्—

(श्रीधरीव्याख्या) ऊर्ध्वमूलमिति । ऊर्ध्वमुत्तमक्षराक्षराभ्यामुत्कृष्टः पुरुषोत्तमो मूलं यस्य तम् । अध इति ततोऽर्वाचीनाः कार्योपाधयो हिरण्यगर्भादयो गृह्यन्ते । ते तु शाखा इव शाखा यस्य तम् । विनश्वरत्वेन श्वः प्रभातपर्यन्तमपि न स्थास्यतीति विश्वासानर्हत्वादश्वत्थं प्राहुः । प्रवाहरूपेणाविच्छेदादव्ययं च प्राहुः । 'ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः' इत्याद्याः श्रुतयः । छन्दांसि वेदाः यस्य पर्णानि धर्माधर्मप्रतिपादनद्वारेण छायास्थानीयैः कर्मफलैः संसारवृक्षस्य सर्वजीवाश्रयणीयत्वापादनात्पर्णस्थानीया वेदाः । यस्तमेवंभूतमश्वत्थं वेद स एव वेदार्थवित् । संसारवृक्षस्य मूलमीश्वरः श्रीनारायणः । ब्रह्मादयस्तदंशाः शाखास्थानीयाः । स च संसारवृक्षो विनश्वरः

प्रवाहरूपेण नित्यश्च । वेदोक्तैः कर्मभिः सेव्यतामापादित-श्चेत्येतावानेव हि वेदार्थः । अतएव विद्वान् वेदवित् इति स्तूयते ।

(भावार्थबोधिनी) ऊर्ध्वमूलमिति—संसारवृक्षका दृष्टान्त सब शरीरोंमें समझना चाहिये । शरीरमें ऊर्ध्वमूल शिर है । और शाखा पाद है । पूर्वका कर्म अश्वत्थरूप अव्यय है । कर्मोंसे प्राणोंका छन्द (व्यापार) होता है । वह जैसा वेदमें है वैसा ही फल भोगता है ।

❀ शारीरक मीमांसा ❀

शारीरक मीमांसा शरीरमें ज्ञानेन्द्रियोंसे देखता है, कर्मेन्द्रियोंसे क्रिया करता है और मनसे उसे बनाता है; क्योंकि आकाश, शब्द और रूप इन तीन गुणोंका नाम ब्रह्म है। (पञ्च-तत्त्व) शब्दरूप है और रूप से ६ रस बनते हैं। रस रूप और रंग के भेद से ७ बनते हैं। ६ रस + ७ रूप + ५ तत्त्व ये मिलकर १८ तत्त्व हुए, यही १८ ब्रह्मके सूत्र हैं। आत्मा, पुरुष और जीव थे तीनों शरीरमें रहते हैं। त्रिविध ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापारसे मुक्ति होती है। और त्रिविध कर्मेन्द्रियोंके त्यागसे पुनः शरीर बनता है और दूसरा शरीर प्राप्त होता है। १८ के साथ इन ६ व्यापारोंका सम्बन्ध होनेसे २४ तत्त्व होते हैं। इनका व्यक्तमें भोग होता है और कर्मेन्द्रियोंके त्यागसे अव्यक्तमें रहता है। इन्हीं ६ सम्बन्धोंके द्वारा ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों से कर्मफल का भोग होता है। और क्रिया कर्मके दूसरे शरीरमें जाती है। यही कर्मकी उत्पत्ति और त्यागसे मोक्ष और बन्ध होता है। यही शारीरक मीमांसा है।

ब्रह्मसूत्रके ४ अध्याय हैं। इसके प्रत्येक अध्यायमें चार चार पाद हैं। वही प्रत्येक पादके आदिके सूत्र ये १६ सूत्र हैं। ब्रह्म संसारका आधाररूप है। भेदसे अपने अपने अङ्कुर के स्वरूपका नाम जगत् (शरीर) है। वही अङ्कुर सूत्ररूप है। भूतकालका नाम उस

अङ्कुरमें है । और भविष्यमें वही वृक्ष है, वही फल और बीज है। फिर अङ्कुर होता है—यही 'बीजाङ्कुर' न्याय है। क्योंकि बीजसे अङ्कुर और अङ्कुरस्वरूप वृक्षसे फूल, फल, बीज होते हैं।

ब्रह्मसूत्र के १६ सूत्र

१ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा [प्रथमाध्याये प्रथमपादः]
२ सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् [,, द्वितीयपादः]
३ द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् [,, तृतीयपादः]
४ आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त-
गृहीतेर्दर्शयति च । [,, चतुर्थपादः]
५ स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाश-
दोषप्रसङ्गात् । [द्वितीयाध्या० प्रथमपादः]
६ रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् [,, द्वि० पा०]
७ न वियदश्रुतेः [,, तृ० पा०]
८ तथा प्राणाः [,, च० पा०]
९ तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः
प्रश्ननिरूपणाभ्याम् [तृतीयाध्याये प्रथमपादः]
१० सन्ध्ये सृष्टिराह हि [,, द्वि० पादः]
११ सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् [तृ० तृ० पा०]
१२ पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः [तृ० च० पा०]
१३ आवृत्तिरसकृदुपदेशात् [चतुर्थाध्या० प्र० पा०]
१४ वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च [च० अ० द्वितीयपादः]

१५ अर्चिरादिना तत्प्रथितेः [च० अ० तृतीयपादः]
१६ सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् [च० अ० चतुर्थपादः]

१६ ब्रह्मसूत्रोंकी व्याख्या

जबतक वेदान्तदर्शनके आद्योपान्त विषयोंका ज्ञान नहीं होगा, तबतक उसका रहस्य भी पाठकोंके हृदयङ्गम न होगा। एतदर्थ यदि सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रोंका पर्यालोचन किया जाय तब भी वह बहुत बड़ा होनेसे सुगमताके साथ थोड़े समयमें पढ़ा नहीं जा सकता। अतः संक्षेपमें पर्याप्त ज्ञानके लिए ब्रह्मसूत्रके ४ अध्यायके १६ पादोंके प्रथम १६ सूत्रोंकी यहाँ संक्षिप्तरूपसे व्याख्या की गई है। आशा है कि जिज्ञासुओंको इससे 'स्थालीपुलाक' न्यायसे ब्रह्मदर्शनका पर्याप्त विषयका ज्ञान हो जायगा।

१—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।

(अध्याय १ पाद १ सूत्र १)

अथ = अनन्तर = नित्यानित्यवस्तुविवेक, ऐहलौकिकपारलौकिकभोगविराग, शमादिसाधनसम्पत् (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा), मुमुक्षुत्व इन साधनचतुष्टयोंके प्राप्त्यनन्तर।

अतः अग्निहोत्रादिकर्मके अनित्यफलक होनेके कारण—
ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मके जानने की इच्छा होती है।

२—सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्।

(अ० १ पा० २ सू० १)

मनोमयत्वादि धर्मोंसे ब्रह्मही उपासनीय है, जीव नहीं। क्योंकि सर्वत्र सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंमें ब्रह्मशब्दका आलम्बन जगत्कारण ब्रह्म ही प्रसिद्ध है। और श्रुतियोंसे भी ब्रह्मही का उपदेश है।

३—द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।

(अ० १ पा० ३ सू० १)

'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' इस मन्त्रमें द्युभ्वादि-स्वर्लोक तथा पृथिवी आदिका आयतन (आधार) जो सुना जाता है वह ब्रह्म ही है। वायु या प्रधान प्रकृति नहीं है क्योंकि—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इस श्रुतिमें आत्म शब्दहीका ग्रहण है, वाय्वादिका नहीं ।

४—आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ।

(अ० १ पा० ४ सू० १)

"जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्रसे इस प्रपञ्चका जिससे उत्पत्ति हो, जिसमें स्थिति हो और जिसमें लय हो वही ब्रह्म है, यह ब्रह्मका लक्षण कह आये हैं, परन्तु यह लक्षण तो कपिलादिसम्मत प्रकृति अजामें भी है । इस दोपका निराकरण वेदसम्मत प्रधानकी कारणता नहीं है यह पूर्वमें दिखला आये हैं । परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि कठोपनिपत्के 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुपः' इस वचनसे प्रधानकी कारणता सिद्ध होती है। यही बात 'आनुमानिकमप्येकेपाम्' कपिलादिकोंके मतसे अनुमानसिद्ध जो प्रधानका कारणत्व है वह श्रुति-स्मृति-शब्दप्रमाणसिद्ध भी है । यह कहकर खण्डन करते हैं कि यह कठका वचन लोकसिद्धार्थप्रतिपादक है, अपूर्व नहीं । क्योंकि रूपकालङ्कारसे विन्यस्त शरीरका ही अव्यक्त शब्दसे काठक वचनोंमें ग्रहण किया है । यथा—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयाँस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

इस रूपकके बादहीका यह वचन है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्नपरं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः ॥

यहाँ पूर्वोक्तरूपकमें कहे गये ही इन्द्रियादि ही उपक्रमवश लिये गये हैं। अतः अव्यक्तशब्देन परिशिष्यमाण शरीर है, प्रधान नहीं।

प्रथम अध्यायमें ब्रह्म जगदुत्पत्तिका कारण है, जैसे मृत्सुवर्णादि घट कुण्डलादिका। उत्पन्न जगत्का नियन्ता होनेसे स्थितिका कारण भी वही है, जैसे ऐन्द्रजालिक—इन्द्रजालका फले हुए जगत् उसींमें लय होनेसे संसारका भी वही कारण है, जैसे पृथिवी पार्थिव प्रपञ्चका यह बात दिखला चुके। अब द्वितीय अध्याय में ब्रह्मको जगत् कारण माननेसे अन्य सिद्धान्तावलम्बियोंको स्मृतिन्यायका विरोध प्रतीत होता है, उसका निराकरण तथा प्रधानवादियोंका न्यायाभासोपबृंहण इत्यादि कहेंगे । प्रथमस्मृतिविरोधपरिहारके लिए यह प्रथम सूत्र है ।

९—स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ।

(अ० २ पा० १ सू० १)

"ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्" (श्वे० ५।२) इस वचनके अनुसार कपिलका मत अयथार्थ नहीं

हो सकता, अतः प्रधान को ही जगत्का कारण मानना चाहिये, ब्रह्मको नहीं, क्योंकि उक्त स्मृतिका विरोध होगा। इसी शङ्काको इस सूत्रमें उठाकर समाधान भी किया है—

स्मृत्यनवकाशदोपप्रसङ्गः—उपर्युक्त स्मृतिवाक्य अनवकाश हो जायगा, ब्रह्मको जगत् कारण माननेसे यह बात ठीक नहीं है क्योंकि अन्य स्मृतिवाक्योंका अनवकाशरूप दोप प्रसक्त होगा। यही वात इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोपप्रसङ्गात् इस सूत्रोत्तरार्द्धसे कही गई है। यहाँ स्मृतिपदसे श्रुति स्मृति दोनोंका ग्रहण है।

यद्यपि पहले ही सांख्यादिमतका निराकरण कर दिया है, तथापि पूर्वमें केवल शब्दप्रमाणमात्रसे मतान्तरका निराकरण किया गया है। अब युक्तियोंसे भी वेदान्तमतका स्थापन तथा मतान्तरका निरसन ही इस पादका विपय है, वही युक्ति इस सूत्र से दिखलाते हैं।

६—रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्।

(अ० २ पा० २ सू० १)

प्रधानवादि कहते हैं, कि घट शराव इत्यादि वस्तु जैसे मृदात्मक वस्तुसे अनुस्यूत है, उसी प्रकार सर्ववस्तु सुखदुःखमोहात्मक प्रकृतिसे अनुस्यूत है, क्योंकि प्रकृतिसे अन्वित है। इसपर ब्रह्मवादि कहते हैं कि यदि दृष्टान्तबलसे प्रधान सिद्ध करते हो तो कहीं भी अचेतन वस्तु विना चेतनके पुरुपार्थ साधक विकारजातको बनाते हुए नहीं देखा गया है। किन्तु गेह प्रासाद शय्या इत्यादि विज्ञशिल्पियोंद्वारा ही बनाये गये सुखदुःखप्राप्ति परिहारयोग्य होते हैं। उसी तरह सकल पृथिव्यादि प्रपञ्च बाह्यपदार्थ तथा आध्यात्मिक शरीरादि बड़े बुद्धिमान लोक प्रसिद्ध असंख्य शिल्पियोंसे भी नहीं

बनाये जा सकते, अचेतन प्रकृतिकी क्या गणना। अचेतनसे रचना-जगत्‌की हो नहीं सकती, अतः चैतन्यस्वरूप ब्रह्म अवश्य मानना चाहिये।

७—न वियदश्रुतेः।

(अ० २ पा० ३ सू० १)

जगत्‌की उत्पत्ति तथा उसके क्रमके विषयमें अनेक मत हैं। उनमें आकाशकी उत्पत्ति नहीं होती यही पूर्वपक्ष दिखलाते हुए वेदान्तियोंने ब्रह्मातिरिक्त पदार्थमात्रको जन्म तथा नश्वर माना है। वही पूर्वपक्ष लेकर यह सूत्र है "न वियदश्रुतेः" आकाशकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उत्पत्तिबोधक कोई श्रुति नहीं है। अन्तमें उत्पत्तिबोधक श्रुतियाँ दिखलाकर उसकी उत्पत्ति सिद्ध की है।

८—तथा प्राणाः।

(अ० २ पा० ४ सू० १)

कुछ ऐसे वैदिक वाक्य मिलते हैं जिनसे प्राणकी अनुत्पत्ति सिद्ध होती है। कुछ ऐसे भी वचन मिलते हैं जिनसे प्राणकी उत्पत्ति सिद्ध होती है। इस विप्रतिपत्तिके हटानेके लिए यह सूत्र (तथा प्राणाः) का उपन्यास है। जैसे आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति है, उसी प्रकार प्राणकी उत्पत्ति भी वेदवाक्योंसे उपलब्ध है।

यथा—(एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः) एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। (मु० उ० २।१।३) सप्राणमसृजत् (प्र० ६।४) यहाँ तथा शब्द उत्पत्तिवाक्यस्थ लोकादिकोंका या वियदादिका परामर्शक है।

१—तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।

(अ० ३ पा० १ सू० १)

द्वितीयाध्यायमें अद्वैतसिद्धान्तमें किये हुए पूर्वपक्षियोंसे स्मृति-न्यायविरोधोंका परिहारादि विषय कहकर जीवव्यतिरिक्त जीवोपकरणीभूत तत्वोंकी ब्रह्मसे उत्पत्ति बतलायी गयी है ।

अब तृतीयाध्यायमें उपकरणोपहितजीवका संसरणप्रकार ब्रह्मका कालत्रयाबाधितत्वादि अनेक विषयोंका वर्णन किया गया है । उनमें प्रथमपादमें पञ्चाग्निविद्याको लेकर संसारगतिभेद दिखलाया गया है । जीव प्राण, इन्द्रियाँ तथा मनके साथ अविद्याकर्म, पूर्वप्रज्ञा (जन्मान्तरसंस्कार) परिग्रहपूर्वक पूर्वदेहको छोड़कर देहान्तर को प्राप्त करता है । अब इसमें यह शङ्का होती है कि क्या जीव इस देहको छोड़कर देहान्तरका बीज सूक्ष्म भूतोंके सहित जाता है या सूक्ष्म भूतसे रहित होकर जाता है । स एतास्तेजो मात्राः समभ्याददानः (बृ० ४।४।१) इस वचनसे तेजोमात्र (करणों का उपादान प्रतीत होता है । भूत सूक्ष्मका उपादान किसी मन्त्रसे सिद्ध नहीं होता, इस पूर्वपक्षके उत्तरमें यह सूत्र है—'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' । तदन्तरप्रतिपत्तौ—देहान्तरप्राप्तिमें देह बीजभूत सूक्ष्म भूतोंसे परिष्वक्त होकर जीव इस शरीरसे जाता है, क्योंकि वेदोंमें एतद्विषयक प्रश्नोत्तरसे यही प्रतीत होता है । यथा—

प्रश्न—"वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"।

प्रवाहणराजाने श्वेतकेतुसे पूछा कि आप जानते हैं कि सायं प्रातर् अग्निहोत्रमें दी हुई आहुतियोंमें पाँचवीं आहुति पुरुष बन जाती है। उनके उत्तर न देनेपर उनके पितासे पूछा। पिताने उत्तर दिया कि वे आहुतियाँ श्रद्धापूर्वक देनेसे श्रद्धा नामकी सूक्ष्म जल-रूप होकर द्युलोकमें जाकर सोम चन्द्रमा बन जाती हैं। फिर चन्द्रमा-द्वारा पर्जन्याग्निमें हुत होकर वृष्टिरूपमें परिणत हो जाती है। फिर पृथिवीमें हुत होकर अन्न बन जाती है। तदनन्तर पुरुषमें हुत होकर रेतः (वीर्य) बन जाती है। फिर योषित् (स्त्री) में पाँचवें बार हुत होनेपर आप (जल) होकर पुरुष बन जाती है। इससे स्पष्ट हो गया कि जीव सूक्ष्मभूत (जल) से परिवेष्टित होकर देहान्तर-प्राप्तिके लिए जाता है।

१०—सन्ध्ये सृष्टिराह हि।

(अ० ३ पाद० २ सू० १)

पूर्वपादमें जीवका संसारगतिभेद कहकर अब इस द्वितीय पादमें उसकी अवस्थाविशेष आदिका वर्णन करेंगे। जीवकी स्वप्नावस्थाको लेकर 'स यत्र प्रस्वपिति' बृ० (४।३।९) इस श्रुतिके उपक्रममें "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते" यह श्रुति कही गई है। इस पूर्वपक्षप्रदर्शक श्रुतिसे सिद्ध होता है कि स्वप्नावस्थाकी सृष्टि सत्य है। इसी पूर्वपक्षका समर्थक "सन्ध्ये सृष्टिराह हि" यह सूत्र है। सन्ध्ये—स्वप्नस्थानमें—सृष्टिः रथादिनिर्माण सत्य है। फिर उत्तरपक्षमें ३ सूत्रसे कहा है कि

स्वप्नमें माया अनादिवासनामात्रसे रथादिकी प्रतीतिमात्र है। क्योंकि वहाँ रथादिनिर्माणका देह देशमें स्थान नहीं, सामग्री नहीं, कैसे वास्तविक रथादिकी रचना क्षणमात्रमें हो सकती है। अतः वह सृष्टि असत्य है। यह सब वर्णन वैराग्यरूप साधनकी सिद्धिके लिए किया गया है।

पूर्वपादमें तत्-त्वं पदार्थका निरूपणपूर्वक ब्रह्मविचार हो गया। अब इस तृतीय पादमें प्रतिवेदान्त अर्थात् भिन्न भिन्न उपनिषदोंमें भिन्न भिन्न ब्रह्मज्ञान वर्णित हैं उसीका विचार इस पादमें करेंगे। क्या वेदान्तभेदसे ब्रह्मविज्ञानका भेद है या नहीं? इसपर पूर्वपक्षरूप में विज्ञानका तैत्तिरीयक, वाजसनेयक, कौथुमक इत्यादि नामभेद, रूपभेद जैसे कोई पञ्चाग्निविद्यामें छठवाँ अग्नि भी मानते हैं, और कोई पाँच ही मानते हैं। एवं कर्मभेद भी मिलते हैं। इस तरह प्रतिवेदान्त विज्ञानभेद बतला कर सिद्धान्त किया है कि—

११—"सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्"।

(अ० ३ पा० ३ सू० १)

सब वेदान्तोंमें प्रत्यय-विज्ञान एक ही है। जैसे अग्निहोत्रमें शाखाभेद होनेपर भी पुरुषप्रयत्न एकसा ही रहता है, उसी प्रकार नामभेदसे विज्ञानभेद यद्यपि प्रतीत होता है तथापि उसका स्वरूप एक ही है। इसी तरह पञ्चाग्निविद्या, वैश्वानरविद्या, शाण्डिल्यविद्याओंमें भी ऐक्य ही है।

भेदका प्रयोजक चोदनाभेद ही होता है। यहाँ प्रतिवेदान्तमें चोदना एक ही है। यही उपर्युक्त सूत्रमें कहा गया है। "चोदना-

ग्रविशेषात्'' इति । चोदना पुरुषप्रयत्नः पुरुषके व्यापार ही यहाँ चोदना शब्दसे विवक्षित हैं। यह सब शाखाओंमें एक ही है।

पूर्वपादमें परापरविद्याका स्वरूपनिरूपण हो चुका । अब वे विद्याएँ कर्माङ्ग होकर पुरुषार्थ (मोक्ष) का साधक है या स्वतन्त्र रूपसे इस सन्देहको दूर करनेके लिए यह सूत्र है।

१२—पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ।

(अ० ३ पा० ४ सू० १)

अतः वेदान्तविहित आत्मज्ञानसे स्वातन्त्र्येण मोक्षकी सिद्धि होती है, कर्माङ्गतया नहीं। ''शब्दात्'' तरति शोकमात्मवित् (छा. ७।१।३) ब्रह्मविदाप्नोति परम् (तै० २।१।१) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मज्ञानकी साक्षात् मोक्षसाधकता सिद्ध होती है। यह बादरायण (व्यासजी) का मत है।

तृतीयाध्यायमें परापरविद्याका साक्षान्मोक्ष साधकता है, या कर्माङ्गतया है, इस विचारके अनन्तर ४ अध्यायमें फलका निरूपण करेंगे।

प्रथम श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि साधनोंका फलसिद्धिके लिए बार बार अनुसरण करना चाहिये, या एक बार ही इस संशयके निराकरणके लिए यह सूत्र है।

१३—आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।

(अ० ४ पा० १ सू० १)

''श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'' एतद्वचनविहितश्रवणादिका बार बार अवलम्बन करना चाहिये। क्योंकि वेदमें कई बार श्रवणादि विधायक वाक्यकी आवृत्ति देख पड़ती है। अतः श्रवणादिकी आवृत्तिमें ही उसका तात्पर्य है। श्रवणादिका ब्रह्मदर्शन ही

फल है, अतः जबतक ब्रह्मदर्शन न हो तबतक श्रवणादिकी आवृत्ति करनी चाहिये। यही इस सूत्रका तात्पर्य है।

१४—वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च।

(अ० ४ पा० २ सू० १)

इस पादमें विद्या द्वारा फलप्राप्तिके लिए देवयानपथका वर्णन करेंगे। इसके पहले उत्क्रान्ति (मरण) का कुछ विचार करते हैं। विद्वान् हो या अविद्वान् हो सबका मरणक्रम एकसा होता है यह आगे कहेंगे। (अस्य सौम्यपुरुषस्य प्रयतो (म्रियमाणस्य) वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्) क्या वागिन्द्रियका मनमें लय होता है या वागिन्द्रियके व्यापारका मनमें लय होता है? इसी सन्देहपर इस "वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च" सूत्रसे वाग्वृत्ति (व्यापार) का मनमें लय होता है, वागिन्द्रियका नहीं। 'दर्शनात्' मरण समयमें देखा गया है कि मनोवृत्ति रहते हुए भी वाग् बन्द हो जाती है। 'शब्दाच्च' कारणमें ही कार्यका लय वेदप्रमाणादिसे सिद्ध है। अतः वाग्वृत्ति (वाग्व्यापार) का ही लय मनमें अध्यारोपित है, क्योंकि मनके अधीन ही इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ हैं।

मरणानन्तर जानेके लिए "अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमते, तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहः, स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति, यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति, सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति" इन श्रुतियोंसे नानामार्ग सुने जाते हैं। परन्तु एक ही सृति (मार्ग) अनेक विशेषणोपलक्षित रूपसे ब्रह्मलोकप्रापिका होती है। यही इस—

१५—अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।

(अ० ४ पा० ३ सू० १)

सूत्रसे उपलब्ध होता है । ब्रह्मोपासकोंके अर्चिरादि मार्गसे ही सम्पूर्ण ब्रह्मेप्सु कार्य ब्रह्मलोकको जाते हैं । उन्हीं अर्चिरादिमार्गोंका अनेक रूपसे अनेकत्र वर्णन है। "तत्प्रथितेः" क्योंकि उसी मार्गकी सर्वत्र प्रसिद्धि है।

तृतीयपादमें सगुणविद्याफलोपयोगी गतिगन्तव्यमार्ग गमनाधिकारियोंका निरूपण हो गया । अब चतुर्थपादमें परविद्याफलभूत-ब्रह्माविर्भाव सगुणविद्याफल सर्वेश्वरतुल्यभोग इत्यादिका निरूपण होगा ।

यह जीव इस शरीरसे उठकर परंज्योतिः परब्रह्मको प्राप्त होकर "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" यहाँ स्वरूप शब्दका आत्मरूप अर्थ है, या आत्मीय आगन्तुक रूप है, आत्मरूपसे ही आविर्भूत होता है, आत्मीयागन्तुक रूपसे नहीं । क्योंकि जिस किसी रूपसे आविर्भूत होगा, वह सब आत्मीय ही रूप हो जायगा । फिर "स्वेन रूपेण" इस वाक्यमें स्वशब्दका उपादान व्यर्थ होगा । अतः स्वशब्द यहाँ आत्मीय अर्थमें नहीं है, किन्तु आत्मा अर्थमें है । यही बात—

१६—सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ।

(अ० ४ पा० ४ सू० १)

इस सूत्रसे कही गयी है । सम्पद्य—परब्रह्मको प्राप्तकर स्वेन आत्मा भिन्न रूपसे आविर्भूत होता है । शब्दात् श्रुतिसे यही बात प्रमाणित होती है ।

उपनिषद्भिमर्श

सांसारिक उन्नतिकी दौड़में आर्यजाति इस समय चाहे जितनी पिछड़ गयी हो, परन्तु पारलौकिक उन्नति जो उसने अतिप्राचीन कालमें कर ली थी, उसकी समता आज भी संसारमें सभ्यताके प्रचार करनेका दमभरनेवाली जातियाँ नहीं कर सकतीं। जातिकी इस ऊर्जितावस्थाका सारा श्रेय उन वैदिक ऋषियोंको है जो अपनी अनन्तज्ञानराशिमें हमें वेदों और वेदान्तके रूपमें छोड़ गये हैं। वेदोंका निचोड़ वा शिरोभाग वेदान्त कहाता है क्योंकि कर्म शेष करता है और यह वेदान्त ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन करता है। इस ब्रह्मविद्या वा वेदान्तके मूल आधार 'उपनिषत्' नामसे प्रसिद्ध हैं। यद्यपि वेदान्तशब्दमें ब्रह्मविद्याका उपदेश करने वाले सभी विषयों-का समावेश हो सकता है, तथापि श्रीबादरायणाचार्यकृत वेदान्त वा ब्रह्मसूत्रों, उपनिषदों और श्रीमद्भगवद्गीताको ही मुख्य कर वेदान्त नामसे पुकारते हैं। इन्हें 'प्रस्थानत्रयी' भी कहते हैं। श्री-मद्भगवद्गीताकी संज्ञा भी उपनिषत् ही है। और इस वचन

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत्॥

के अनुसार गीता उपनिषदोंका सारमात्र है। ब्रह्मसूत्र स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ये भी उपनिषदोंके ही सारभूत हैं। उनमें विशेषता केवल इतनी ही है कि उपनिषदोंमें जहाँ कहीं मतभेदसा दिखायी दिया है, वहाँ श्रीबादरायण व्यासने एकवा-

क्यता सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। इसलिए उपनिषदोंको ही ब्रह्मविद्याका मूल मानना उचित है। वेदान्त वेदका ही अङ्ग है, केवल ब्रह्मज्ञानका उपदेश करनेके कारण वेदका अन्त या मथितार्थ अथवा निचोड़ बताया गया है। यों तो उपनिषदोंकी संख्या दो सौ बत्तीस बताई जाती है, पर इनमें अकबरके समयकी बनी "अल्लोपनिषत्" तकका समावेश हो जाता है। साधारणतया १०८ उपनिषदें मानी जाती हैं, परन्तु इनमें भी सब प्राचीनसी ज्ञात नहीं होती हैं।

मुख्य उपनिषदें १० ही हैं, क्योंकि शरीरमें १० इन्द्रियाँ ही हैं और ये सब वेदोंकी अङ्गभूत हैं। उक्त १० उपनिषदें ये हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक। ऐतरेय ऋग्वेदकी, तैत्तिरीय और कठ कृष्ण यजुर्वेदकी, ईश और बृहदारण्यक शुक्लयजुर्वेदकी, केन और छान्दोग्य सामवेदकी तथा प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य अथर्ववेदकी उपनिषदें हैं। ईशोपनिषत् संहिताके अन्तर्गत और शेष नवोपनिषत् ब्राह्मणोंके अन्तर्गत हैं। उपनिषत्का अर्थ है—"उपनिषद्यते = प्राप्यते ब्रह्मविद्या अनया, इत्युपनिषत्" अर्थात् जिससे ब्रह्मविद्या प्राप्त हो वह उपनिषत् है। दूसरा अर्थ यह है—"उप = नितरां सादयति—अविद्यां विनाशयतीत्युपनिषत्" अर्थात् ब्रह्मके समीप पहुँचनेके लिए अविद्यारूपी अन्धकार जो नाश करे वह उपनिषत् है। इन दोनों अर्थोंमें शब्दोंके सिवा भावमें अन्तर नहीं है।

ऊपर जिन उपनिषदोंका नामोल्लेख हुआ है उनमें ईश, केन और कठ उपनिषदों में सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंका और प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय और तैत्तिरीयमें पञ्चभूतों यथा

आकाश, वायु, अग्नि जल और पृथ्वीके सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वोंपर विचार किया गया है। छान्दोग्यमें प्राणविद्या और आदित्यविज्ञान-का प्रधानतया विवरण है। प्रश्नोपनिषद् आदिमें आदित्यको प्राण और चन्द्रको रयि कहा गया है। अर्थात् आदित्य भोक्ता और चन्द्र भोग्य कहा गया है। पृथ्वी आदि मूर्त्तिमान् पदार्थ चन्द्ररूपभोग्य है। वायु और तेज आदित्य है। भोक्ता तीन लोकोंको उत्पन्न, पालन और संहार करता है। ये ही भोक्ता और भोग्य सांख्य-शास्त्रके पुरुष-प्रकृति बनकर विश्वका सर्जन करते हैं। प्राणरूप सूर्य प्रत्येक शरीरकी प्रत्येक इन्द्रियमें अपनी किरणों द्वारा प्रवेशकर प्रकाश और शक्ति प्रदान करता तथा उत्तर पूर्व आदि दिशाओं और ईशानादि कोणोंमें प्रवेश कर उनको प्रकाशवान् बनाता है। सूर्यही समस्त विश्वका आश्रयस्थल है, प्रकाशक है और रक्षक है, इस-लिए, उसेही विद्वानोंने विश्वरूप, जातवेदा, परायण और सहस्र-रश्मि आदि कहा है। भूः, भुवः, स्वः ये तीनों लोक सूर्यसे प्रका-शित हैं, शरीरके तीनों लोक प्राणसे प्रकाशित हैं और महः, जनः, तपः और सत्यं स्वयं प्रकाशवान् हैं। सूर्यही काल है, कालही प्रजा-पति है और प्रजापतिही संवत्सर है। यही शरीरमें समझना। संवत्सर या वर्षके दो भाग हैं। एक दक्षिणायन और दूसरा उत्त-रायण। प्रथममें सूर्य दक्षिणकी ओर, दूसरेमें उत्तरकी ओर रहता है। श्रौतस्मार्त्तकर्मकरनेवाले और इष्टापूर्त आदि यज्ञ करनेवाले पुरुष चन्द्रमाको प्राप्त करते और दक्षिणायनमार्गसे जाते हैं। इसीका नाम पितृमार्ग भी है। तपस्वी, ब्रह्मचारी, वेदगुरुभक्त और सूर्यो-पासक पुरुष सूर्यलोकको प्राप्त करते और उनकी गति उत्तरायण मार्गसे है। चन्द्रलोक या स्वर्गलोकके जीवका पुनरागमन होता

है। परन्तु सूर्यलोकप्राप्त जीवका पुनरागमन नहीं होता। मासमें जो दो पक्ष हैं, उनमें कृष्णपक्ष चन्द्रमा है और शुक्लपक्ष सूर्य है। कृष्णपक्ष रयि और शुक्लपक्ष प्राण है। विद्वान् लोग प्राणरूप सूर्यकी ही उपासना करते हैं। फलतः प्राणही जगत्‌का एकमात्र आश्रय-स्थल है। इसलिए छान्दोग्योपनिषद्‌ने प्रधानतया प्राणविद्याकी ही विवेचना की है।

गायत्री, त्रिष्टुप्, उष्णिक्, बृहती आदि छन्दोंमें वेदमन्त्रोंके निबद्ध होनेसे वेदोंको छन्दस् भी कहते हैं। और वेदोंके गाने वालोंका नाम छन्दोग है, तथा छन्दोगोंका धर्मसम्बन्धी जो शास्त्र है उसका नाम छान्दोग्य है। यद्यपि छान्दोग्यशब्दका उपर्युक्त अर्थ है, किन्तु आजकल केवल सामवेदियोंमें ही छन्दोग शब्द रूढिसा हो गया है। इसलिए सामगही छन्दोग और यह उपनिषत् ही छान्दोग्य कही जाती है। यह उपनिषत् सामवेदके सुप्रसिद्ध "ताण्ड्य" ब्राह्मणसे निकली है। जैसा इस श्लोकसे सिद्ध होता है—

छान्दोग्योपनिषच्छ्रेष्ठा ताण्ड्यब्राह्मणनिःसृता।
अष्टौ प्रपाठकाः खण्डाः समुद्रभूतभूयुताः॥

अर्थात् उपनिषदोंमें श्रेष्ठ छान्दोग्योपनिषत् ताण्ड्यब्राह्मणसे निकली है। इसमें आठ प्रपाठक या अध्याय और १५४ खण्ड हैं।

उपनिषदोंमें चार विषयोंका विशेष विवेचन है—आत्म-व्यापकता, देहान्तरग्रहण, सृष्टितत्त्व और लयरहस्य। किन्तु ब्रह्म-विद्याके उपदेशसे ये चारों ओतप्रोत हैं। एक प्रकारसे ब्रह्मात्मैक्य-मूल है। और ये चारों विषय उसकी शाखाएँ हैं। "सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म" "अहं ब्रह्मास्मि" "एकमेवाद्वितीयम्" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" आदि महावाक्योंको छोड़ भी दिया जाय तोभी उपनिषदोंमें

कदाचित् ही कोई ऐसा प्रपाठक, खण्ड वा अनुवाक मिलेगा जिसमें परब्रह्मकी महिमाका आभास न मिलता हो। इसीसे उपनिषद्का एक नाम "ब्रह्मविद्या" भी है। और उपनिषदोंको ही वेदान्त कहते हैं।

उपनिषदोंकी महत्ताका अनुमान तभी लग सकता है जब सभ्य संसारकी भाषाओंका ज्ञान हो और मनुष्य यह जाने कि वे कहाँ किस रूपमें विराज रही हैं। शाहजहाँके बेटे दाराने इन उपनिषदोंका फारसीमें उल्था कराया था। पहले भी उल्थे फारसीमें हो चुके थे जिनके आधार पर मौलाना रूमने अपनी मस्नवी रची थी, जो तसव्वुफ वा सूफी सम्प्रदायका प्रसिद्ध ग्रन्थ फारसी भाषामें समझा जाता है। तसव्वुफ और कुछ नहीं हमारा वेदान्तही है। फारसीसे ग्रीक और लैटिन भाषाओं द्वारा उपनिषदोंका ज्ञान यूरोप पहुँचा और यह प्रसिद्ध है कि जर्मनी के प्रख्यात प्रोफेसर शोपनेहर इन उपनिषदोंका अध्ययनकर ऐसे मुग्ध हुए कि उन्होंने यहाँतक कह डाला कि यह (उपनिषत्) मुझे जीवनकालमें सान्त्वना देती रही है, और मरने परँ भी सांत्वना देगी। इससे सिद्ध है कि आर्य-जातिका मस्तक संसारमें ऊँचा रखनेमें वेद सदा समर्थ रहेंगे।

छन्द क्या है ?

शरीर द्वारा जिससे रचना होती है उसको छन्द कहते हैं। और मैं मैं (अहंभाव) से उसे समझा जाता है। शब्द, कर (पाणि) उपस्थ आदिसे रचना होती है। श्रोत्र, चक्षु और जिह्वा आदिसे समझा जाता है। व्याकरणसे ये कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय कहे जाते हैं। अतएव 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' यह कोश भी संगत होता

है। और पिङ्गलकी मात्रावृत्ति तथा वर्णवृत्ति ये दो वृत्तियाँ हैं, अतः व्याकरण तथा पिङ्गल ये दोनों छन्दःस्वरूप हैं—अर्थात् छन्दःप्रतिपादक हैं, क्योंकि व्याकरणसे शब्दका ग्रहण और त्याग होता है। पिङ्गलसे भावद्वारा मात्राका ग्रहण और त्याग होता है तथा मनद्वारा अक्षरका त्याग और ग्रहण होता है। इसी प्रकार वृक्षमें भी छन्दका स्वरूप समझना चाहिये। वृक्ष पत्र, फूल एवं बीजस्वरूप है। ब्रह्मसे संसारवृक्ष होता है और भेदसे जगत् (शरीराङ्कुर) वृक्ष भासता है, यही छन्दः है।

त्रयी विद्या

१—हृदयमें रहनेवाला मन वेद है। और फलमें बीज वेद है। बीजका भेद अपने अपने स्वरूप और स्वभावके अनुकूल अङ्कुर उत्पन्न करता है।

२—ब्रह्मसूत्रको बीजाङ्कुरके तरह समझना चाहिये। जैसा अङ्कुरका भेद होता है, वैसाही शरीर और वृक्ष बनता है, वृक्षके अनुरूप फल लगता है और फलमें बीज रहता है। यही भेदसे अनेक है। और शब्दसे एक है। ब्रह्म शब्दरूप है। संसार शब्दका अर्थ रूप है, क्योंकि मुखसे एक शब्द बोला जाता है और सहस्रों उसे सुनते हैं। पूर्वके कर्मसे शरीरका भेद होता है, जैसे आयु एक है और आयुमें फल प्रतिदिन अलग अलग भोगा जाता है। यह बात जड़ और चेतनमें समान है। छन्द शब्द और रूपका बनता है। इसको लोग सुनते, देखते और समझते हैं। इन्हीं तीनों को "त्रयीविद्या" कहते हैं।

(राजा) बलदेवदास बिरला

चतुर्दशसूत्रोंकी दार्शनिक व्याख्या

नत्वा शब्दात्मकं ब्रह्म नन्दिकेश्वरकाशिकाम् ।
समाश्रित्य च व्याचष्टे सूत्रं वेदेन्दुसंख्यकम् ॥

बहुतसे महर्षि स्वाभिमतसिद्धिके निमित्त तप कर रहे थे। महेश्वरने वागगोचर ब्रह्मतत्त्वको बतलाते हुए अपने डमरूके नादसे ऋषियोंके अभिमत पदार्थका उपदेश किया। तदनन्तर चतुर्दश-सूत्रात्मक नादका रहस्य जब ऋषियोंको समझ न आया तो वे सब लोग नन्दिकेश्वरके समीप उन सूत्रोंका रहस्य समझनेके लिए आये। उनके पूछने पर नन्दिकेश्वरने 'नृत्तावसाने' इत्यादि २७ सत्ताईस कारिकाओंसे इन १४ सूत्रोंका रहस्य बतलाया। वे कारिकाएँ तथा उनकी हिन्दी व्याख्या यहाँ प्रदर्शित की गई है।

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥ १ ॥

अर्थ—विश्वप्रपञ्चका नानाविध सृष्टि-स्थिति-प्रलयरूप विचित्र नाट्यप्रदर्शनवाले अतएव नटराजराज महादेवने नर्तनके अन्तमें १४ वार डमरूको सनकादिसिद्धोंके उद्धारकी इच्छासे बजाया। यह नाद मैं समझता हूँ कि अकारादि वर्णात्मक अतिरहस्यभूत शिवजीका सूत्रसमुदाय या कल्याणरूप सूत्रसमूह है।

अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यवर्णचतुर्दशम् ।
धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये ॥ २ ॥

इन सब सूत्रोंमें अन्तिम १४ (इत्संज्ञक) वर्णोंका पाणिन्यादि मुनिके धातुमूलक शब्दशास्त्रमें प्रत्याहारद्वारा प्रवृत्तिके लिए शिव-

जीने उपदेश किया है। यह अन्य ऋषियोंके अन्य अभीष्टोंका भी उपलक्षण है।

अइउण् ॥ १ ॥

अकारो ब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुणः सर्ववस्तुषु।
चित्कलामिं समाश्रित्य जगद्रूप उणीश्वरः ॥ ३ ॥

निर्गुणब्रह्मस्वरूप ही अकार है। इसीलिए गीतामें कहा है—'अक्षराणामकारोऽस्मि' इति। वह इ—मायाको समाश्रयण कर सर्ववस्तुओंमें उ—व्यापक सगुण ईश्वर जगद्रूपसे ण्—आसीत्—आविर्भूत हुआ। सृष्टिकालमें अ—इ—उ—ऋ—ऌ इन पाँच वर्णोंसे ही उनचास अक्षरों, पञ्चभूतों तथा पञ्चवर्गोंकी उत्पत्ति हुई। तथा च श्रुतिः 'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत' सृष्टिके पूर्व असत्—इस समय असन् रूपसे प्रतीतसा हो रहा अकाररूप ब्रह्म ही था। उसीसे सत्-सद्रूपसे प्रतीयमान अर्थात् सगुण होकर आविर्भूत हुआ।

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमेश्वरः।
आद्यमन्त्येन संयोगादहमित्येव जायते ॥ ४ ॥

अर्थ—सब वर्णोंमें अग्रगण्य अकार प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही है। परमात्मासे आविर्भूत अकारादि हकारान्तवर्णसमुदायका आद्यन्त अकार हकारके सम्बन्ध होनेसे 'अहम्' बन जाता है। इससे यह भी उपलब्ध हुआ कि 'एकोऽहं द्वितीयः स्याम्' इस श्रुतिसे बोधित अहम् पदवाच्य ही जीव भी है।

सर्वं परात्मकं पूर्वं ज्ञप्तिमात्रमिदं जगत्।
ज्ञप्तेर्बभूव पश्यन्ती मध्यमा वाक् ततः स्मृता ॥ ५ ॥

वक्त्रे विशुद्धचक्राख्ये वैखरी सा मता ततः ।
सृष्ट्याविर्भावमासाद्य मध्यमा वाक् समा मता ॥ ६ ॥

अर्थ—यह सम्पूर्ण जगत् पहले ज्ञप्तिमात्र–ब्रह्मस्वरूप ही था । फिर वही परमात्मा अनादिर्जीवोपाधिभूतान्तःकरणके आश्रित कर्मप्रेरित प्राणव्यापारानन्तर मायावश नाभिस्थ होकर परावाग् हुआ । हृदयस्थ होकर पश्यन्ती वाग् हुआ । विशुद्धचक्रस्थ होकर मध्यवाग् हुआ । फिर वक्त्र (मुख) स्थ होकर वैखरीवाङ्मयवेदादिरूपमें आविर्भूत हुआ । यह बात 'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे' सूक्ष्मावाग् ही का समस्त प्रपञ्च विवर्त हुआ । 'वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तमेवैकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते' यह श्रुति भी उसी बातकी पोषिका है ।

अकारं संनिधीकृत्य जगतां कारणत्वतः ।
इकारः सर्ववर्णानां शक्तित्वात्कारणं गतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—अकारके सन्निधानसे जगत् कारण होनेसे शक्तिरूप इकार सब वर्णोंका कारण माना गया है । यहाँ 'गतम्' की जगह 'मतम्' उचित है ।

जगत्स्रष्टुमभूदिच्छा यदा ह्यासीत्तदाभवत् ।
कामबीजमिति प्राहुर्मुनयो वेदपारगाः ॥ ८ ॥

अर्थ—जब ईश्वरकी इच्छा सृष्टि करनेकी हुई तब कामबीज (इकार) आविर्भूत हुआ ।

अकारो ज्ञप्तिमात्रं स्यादिकारश्चित्कला मता ।
उकारो विष्णुरित्याहुर्व्यापकत्वान्महेश्वरः ॥ ९ ॥

अर्थ—अकार ज्ञानस्वरूप (ब्रह्म) है । इकार चित्कला माया है । उकार व्यापक होनेसे महेश्वरस्वरूप विष्णु भगवान् है । पूर्वोक्तार्थ ही 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इस न्यायसे फिर कहा ।

ऋलक् ॥ २ ॥

ऋलक् सर्वेश्वरो मायां मनोवृत्तिमदर्शयत् ।
तामेव वृत्तिमाश्रित्य जगद्रूपमजीजनत् ॥ १० ॥

अर्थ—वेदान्तसिद्धान्तमें परमेश्वरातिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। यदि परमात्मा इरूप चित्कलाको आश्रयण कर जगद्रूप हुआ यह माना जाय तो अद्वैतसिद्धान्त भङ्ग हो जायगा। इस शङ्कापर समाधानरूप यह कारिका है। ऋ—परमेश्वरने ल—मायानामक मनोवृत्तिको क्—अदर्शयत्—दिखलाया। यहाँ सर्वेश्वर पदसे यह सूचित किया कि माया परमेश्वरातिरिक्त नहीं है। उसी मनोवृत्तिको आश्रयण कर परमेश्वरने जगत्का उत्पादन (विवर्त) किया। 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म' यह श्रुति ही ऋ परमेश्वरका बोधक है, इसमें प्रमाण है। तत्पदार्थ परब्रह्मस्वरूप ऋ सत्य है।

वृत्तिवृत्तिमतोरत्र भेदलेशो न विद्यते ।
चन्द्रचन्द्रिकयोर्यद्वद्यथा वागर्थयोरपि ॥ ११ ॥
स्वेच्छया स्वस्य चिच्छक्तौ विश्वमुन्मूलयत्यसौ ।
वर्णानां मध्यमं क्लीबमृलृवर्णद्वयं विभुः ॥ १२ ॥

अर्थ—जैसे चन्द्रमा और चन्द्रिकामें तथा वाग् और अर्थमें भेद नहीं है उसी प्रकार वृत्तिमान्—परमात्मा तथा वृत्ति—मायामें भेद नहीं है। केवल पार्थक्यकी प्रतीतिमात्र है। अतः वृत्तिके माननेपर भी अद्वैतसिद्धान्तकी हानि नहीं है।

स्वेच्छया अपनी चिच्छक्तिमें विश्वको प्रकाशित करता है, वह वर्णोंका मध्यम जो ऋ-लृवर्णद्वय है उनको क्लीब-अद्वैत ऋषि लोग जानते हैं।

एओङ् ॥ ३ ॥

एओङ् मायेश्वरात्मैक्यविज्ञानं सर्ववस्तुषु ।
साक्षित्वात्सर्वभूतानां स एक इति निश्चितम् ॥ १३ ॥

अर्थ—पूर्वमें 'जगद्रूपमजीजनत्' जगत्को पैदा किया ऐसा कहा गया है। इस तरह जन्यजनकभाव माननेसे अद्वैतहानि हो जायगी। अतः 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुतिके आधारपर इस कारिकासे उस संशयको दूर करते हैं।

जन्यजनकभाव व्यवहारमात्र है। परमात्मा ही जगद्रूपसे वर्तमान है। अतः अद्वैतहानि नहीं है।

समष्टि-व्यष्टि-भेदसे असे युक्त इ = ए, असे युक्त उ = ओ इन दोनों वर्णोंसे माया तथा ईश्वरका सब वस्तुओंमें ऐक्य बोधन करते हैं। सर्वभूतोंके साक्षी होनेसे वह एक ही है।

ऐऔच् ॥ ४ ॥

ऐऔच्ब्रह्मस्वरूपः सन् जगत्स्वान्तर्गतं ततः ।
इच्छया विस्तरं कर्तुमाविरासीन्महामुनिः ॥ १४ ॥

अर्थ—ततः—तत्र स्वान्तर्वर्ति जगत्का विस्तार करनेकी इच्छासे परमात्मा दीर्घाकारेकारयोगात्मक ज्ञानशक्तिरूप ऐकार तथा दीर्घाकारोकारयोगात्मक औकाररूप प्रज्ञानात्मा मायाशबलित होकर आविर्भूत हुए। 'अकारेकारोकाराणां ह्रस्वदीर्घाणां संयोगात्सर्वसम्भूतिरिष्यते' यह ईश्वरविमर्शिनीका वचन भी इसमें मूल है।

हयवरट् ॥ ५ ॥

भूतपञ्चकमेतस्माद्धयवरण् महेश्वरात् ।
व्योमवाय्वम्बुवह्न्याख्यभूतान्यासीत्स एव हि ॥ १५ ॥

हकाराद् व्योमसंज्ञञ्च यकाराद्वायुरुच्यते ।
रकाराद्वह्निस्तोयं तु वकारादिति सैव वाक् ॥ १६ ॥

अर्थ—पञ्चवर्णात्मक महेश्वरसे पञ्चमहाभूतकी सृष्टि हुई। यद्यपि यहाँ पृथ्वीकी सृष्टि नहीं कही गई है, तथापि उसकी भी उत्पत्ति अगली कारिकामें कहेंगे ।

लण् ॥ ६ ॥

आधारभूतं भूतानामन्नादीनाञ्च कारणम् ।
अन्नाद्रेतस्ततो जीवः कारणत्वाल्लणीरितम् ॥ १७ ॥

अर्थ—सब भूतों (जरायुज–मनुष्यादि–अण्डज–स्वेदज–मत्कुणादि–उद्भिज्ज–लतावृक्षादि) का आधार तथा अन्नपानादिकोंकी कारणभूत पृथ्वीकी उत्पत्ति लरूप परमेश्वरसे हुई । अन्नसे रेतः (वीर्य्य), रेतसे शरीरकी उत्पत्ति होती है । शरीरकी उत्पत्ति ही यहाँ जीवकी उत्पत्ति समझनी चाहिये । इस प्रकार कारण होनेसे लरूपकारणक पृथ्वी है ।

ञमङणनम् ॥ ७ ॥

शब्दस्पर्शौ रूपरसगन्धाश्च ञमङणनम् ।
व्योमादीनां गुणा ह्येते जानीयात्सर्ववस्तुषु ॥ १८ ॥

अर्थ—व्योमादिकारणीभूत तथा सूक्ष्मरूपेण सब वस्तुओंमें व्याप्त शब्दतन्मात्रादिकी उत्पत्ति ञमङणनरूप परमात्मासे हुई जाननी चाहिये । एते गुणाः तन्मात्ररूपेण व्योमादीनां कारणानीति जानीयादित्यर्थः । इससे 'गुणान्' द्वितीयान्त होना चाहिये यह शङ्का निरस्त हुई ।

झभञ् ॥ ८ ॥

वाक्पाणी च झभञासीद्विराड्रूपचिदात्मनः ।
सर्वजन्तुषु विज्ञेयं स्थावरादौ न विद्यते ॥ १९ ॥
वर्गाणां तुर्य्यवर्णा ये कर्मेन्द्रियमया हि ते ।

घढधष् ॥ ९ ॥

घढधष्सर्वभूतानां पादपायू उपस्थकः ।
कर्मेन्द्रियगणा ह्येते जाता हि परमार्थतः ॥ २० ॥

अर्थ—वर्गोंके चतुर्थवर्ण कर्मेन्द्रियस्वरूप हैं । विराड्रूप चिदात्मासे आविर्भूत झ–भरूपवर्णद्वय मुख तथा हस्तरूप कर्मेन्द्रिय बन गये । ये इन्द्रियाँ स्थावरके अतिरिक्त सब जन्तुओंमें हैं । परमात्मासे ही आविर्भूत घ–ढ–ध रूपवर्णत्रय सब भूतोंका चरण–पायू–मलत्यागेन्द्रिय–उपस्थ–प्रस्रावेन्द्रियता कर्मेन्द्रिय बन गये ।

जबगडदश् ॥ १० ॥

श्रोत्रत्वङ्नयनघ्राणजिह्वाधीन्द्रियपञ्चकम् ।
सर्वेषामेव जन्तूनामीरितं जबगडदश् ॥ २१ ॥

अर्थ—'वर्गाणां मध्यवर्णोत्थो ज्ञानेन्द्रियगणः स्मृतः' इस वचनके अनुसार ज ब ग ड द ये वर्णपञ्चक कर्ण–त्वक्–नेत्र–नासिका–जिह्वारूप सब प्राणियोंके यथासम्भव कर्मेन्द्रिय बन गये ।

खफछठथचटतव् ॥ ११ ॥

प्राणादिपञ्चकञ्चैव मनोबुद्धिरहंकृतिः ।
बभूव कारणत्वेन खफछठथचटतव् ॥ २२ ॥

वर्गद्वितीयवर्णोत्था: प्राणाद्याः पञ्चवायवः ।
मध्यवर्गत्रयाज्जाता अन्तःकरणवृत्तयः ॥ २३ ॥

अर्थ—ख फ छ ठ थ वर्गके इन द्वितीय वर्णोंसे प्राण-अपान-व्यान-उदान तथा समान ये पञ्च वायु उत्पन्न हुए। च ट त इन तीन मध्य वर्गके तृतीय वर्णोंसे अन्तःकरणकी मन-बुद्धि-अहंकार-रूप ये तीन वृत्तियाँ उत्पन्न हुईं।

कपय् ॥ १२ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव सर्वेषामेव सम्मतम् ।
सम्भूतमिति विज्ञेयं कपय् स्यादिति निश्चितम् ॥ २४ ॥

अर्थ—आद्यन्त वर्गद्वय पवर्ग यवर्ग के प्रथम क प रूप दो वर्णोंके सम्पुटसे सर्वसम्मत प्रकृति-पुरुष का सम्भव हुआ। यद्यपि साङ्ख्याभिमत प्रकृति-पुरुष नित्य हैं, तथापि प्रकृति-पुरुषका सम्बन्ध होना ही उनकी उत्पत्ति यहाँ समझना चाहिये।

शपसर् ॥ १३ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणानां त्रितयं पुरा ।
समाश्रित्य महादेव शपसर् क्रीडति प्रभुः ॥ २५ ॥
शकाराद्राजसोत्पत्तिः षकारात्तामसोद्भवः ।
सकारात्सत्त्वसम्भूतिरिति त्रिगुणसम्भवः ॥ २६ ॥

अर्थ—सृष्टि के प्रथम सत्त्व–रज–तम इन तीनों गुणोंका कारणीभूत जिन शषस वर्णोंका समाश्रयण कर जगत्प्रभु महादेव क्रीड़ा किया करते हैं, उन्हीं वर्णोंसे उक्त गुणत्रितयकी उत्पत्ति हुई।

हल् ॥ १४ ॥

तत्त्वातीतः परः साक्षी सर्वानुग्रहविग्रहः ।
अहमात्मा परो हल् स्यामिति शम्भुस्तिरोदधे ॥ २७ ॥

अर्थ—सम्पूर्णतत्त्वोंका पैदा करनेवाला सर्वानुग्रहीता तथा निग्रहकारी तत्त्वागोचर पर–सर्वकारण हकार ('हकारः शिववर्णः स्यादिति शैवागमस्थितिः') इस वचन के अनुसार मैं वास्तविक अपने स्वरूप हो जाऊँ इस इच्छासे शङ्कर भगवान् अन्तर्हित हो गये।

पूर्वोक्त २७ कारिकाओंमें नन्दिकेश्वरने ब्रह्मस्वरूप तथा क्रमिक प्रपञ्चकी उत्पत्तिका वर्णन किया है। उन्हीं कारिकाओं-की 'तत्त्वविमर्शिनी' नामक व्याख्या संक्षिप्त रूपसे उपमन्युने की है।

तदनुसार ही समासतः मैंने हिन्दी व्याख्या की है। परन्तु इसको व्याख्या न कह कर स्वयमूहित इन सूत्रोंसे सृष्टिक्रमका उपपादनमात्र कहा जाय तो अनुचित न होगा। नन्दिकेश्वरने किस आधारपर १४ सूत्रोंसे सृष्टिका उपपादन किया यह भी चिन्तनीय है। समय मिलने पर अनुसन्धानपूर्वक इसकी आर्थिक-व्याख्या लिखनेका मैं यत्न करूँगा। इति शिवम्।

सभापति उपाध्याय,
प्रिन्सिपल,
बिरला संस्कृत कालेज, बनारस

ता० ५–१–४१

नन्दिकेश्वरकी दो कारिकाओंपर राजा बिरलाजीकी व्याख्या

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥ १ ॥

भावार्थ—पूर्वशरीरके कर्मसमाप्तिके फलका नाम नृत्तावसान है। उसके फलसे वर्तमान शरीर नटराजराजो अर्थात् नट (शरीर) राज (भाव) राजो (अन्तःकरण मन आदि) है। वही चार अन्तःकरण सनकादि शरीर का कार्य पूरा करने के लिए 'उद्धर्तुकाम' होते हैं। अन्तःकरणकी चेष्टासे प्राणमें धक्का लगता है। उसीसे नवस्वर पाँचवर्ग निकलते हैं और बनते हैं, वही समझा जाता है, वही १४ सूत्र विमर्श से समझा गया है, जिसका नाम शिवसूत्रजल है। यही १४ सूत्र है, जिसका नाम व्याकरण है। शिव जलरूप है, और जलसे सब वस्तु संसारमें बनती है, वह अनेक होने से समझमें नहीं आती इससे जाल है।

इस उपर्युक्त श्लोकको अपराविद्यासे समझना चाहिये।

अकारो ब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुणः सर्ववस्तुषु ।
चित्कलामिम् समाश्रित्य जगद्रूप उणीश्वरः ॥ २ ॥

भावार्थ—सब शरीरोंका आकार ब्रह्मनाम रूप है। यह शरीर निर्गुण है। शरीर सब वस्तुरूप है, क्योंकि जब चित्त प्राणकी कला शरीरको प्रेरणा करती है, तभी इन्द्रियोंसे गुणका ग्रहण तथा त्याग होता है, अन्यथा नहीं। शरीर पृथिव्यादिरूप है, पृथिव्यादिमें चित्तकी कलाके आश्रयणसे वह जगत उत्पन्न होता है तथा लय

होता है। उण् ही कर्म है, और उसके फलस्वरूप दूसरा शरीर धारण करे उस शरीरके कर्मफल भोगानेवाला ईश्वर नाम है।

यह श्लोक अपराके अनुमानसे समझा जाता है।

चतुर्दशसूत्रोंका भावार्थ

पञ्चमहाभूतविस्तार स्वरसङ्ख्या ९

पञ्चभूतव्यक्तिके वास्ते सङ्ख्यामें व्यञ्जनव्यापार है। यही मिलकर १४ सूत्र है। अतएव "नवपञ्चवारम्" इति सङ्गतम्।

१ अ विस्तार व्यापक	इ चेतन व्यक्ति	उ वर्ण कर्म	ण् रूप धर्म
२ ऋ वर्ण रूप	ऌ क्रिया कर्म	क् धर्म फल	
३ एओङ् शरीर कर्मसे पूर्ण	४ ऐऔच् जगत् शरीर अधिकार	५ हयवरट् वर्णानुसार रूप भोग	
६ लण् अन्नाधार भूत है	७ ञमङणनम् शब्दसे शरीरका आवागमन है	८ झभञ् भूतोंमें विहार और व्यापार है	

९ घढधष् वर्णमें त्याग और ग्रहण है		१० जबगडदश् पञ्चज्ञानेन्द्रियोंमें विहार है	
११ खफछठथचटतव् कर्मेन्द्रियोंका व्यापार		१२ कपय् प्रकृति-पुरुषका भाव मन व्यापार	
१३ श जडचेतन कर्म धर्म	ष क्रिया कर्म धर्म	स कर्म भोग फल	र् वर्ण रूप (अर्थ) भोग
ह सांख्यमें वर्ण रूप है		ल् वर्णमें लेन देन है	

(राजा) बलदेवदास बिरला

श्रीः

❀ कठोपनिषद् ❀

ॐ सह नाववतु ॥ सह नौ भुनक्तु ॥ सह वीर्यं करवावहै ॥ तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ । तस्य
ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥ त ꣳ ह कुमार ꣳ
सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥
पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः । अनन्दा नाम
ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥ स होवाच पितरं
तत कस्मै मां दास्यसीति । द्वितीयं तृतीयं त ꣳ होवाच
मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥ बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि
मध्यमः । किं ꣳ स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥५॥
अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे । सस्यमिव मर्त्यः
पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६ ॥ वैश्वानरः प्रविशत्य-
तिथिर्ब्राह्मणो गृहान् । तस्यै ता ꣳ शान्तिं कुर्वन्ति हर
वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥ आशाप्रतीक्षे सङ्गत ꣳ सूनृतां
चेष्टापूर्ते पुत्रपशू ꣳ श्च सर्वान् । एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥ तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे
मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः । नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥ ९ ॥ शान्तसंकल्पः सुमना

यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माभिव-
देत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥ यथा पुर-
स्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः। सुख ँ
रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्
॥ ११ ॥ स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न
जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते
स्वर्गलोके ॥ १२ ॥ स त्वमग्नि ँ स्वर्ग्यमध्येपि मृत्यो प्रब्रूहि
त ँ श्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त
एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥ प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्। अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥ लोकादिमग्निं तमु-
वाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा। स चापि तत्प्र-
त्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥
तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृंकां च मामनेकरूपां
गृहाण ॥ १६ ॥ त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्म-
कृत्तरति जन्ममृत्यू। ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचा-
य्येमा ँ शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥ त्रिणाचिकेतस्त्रयमे-
तद्विदित्वा य एवं विद्वा ँ श्चिनुते नाचिकेतम्। स मृत्यु-
पाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥
एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।

एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो
वृणीष्व ॥ १९ ॥ येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके
नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष
वरस्तृतीयः ॥ २० ॥ देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि
सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः । अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा
मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥ देवैरत्रापि विचिकि-
त्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ । वक्ता चास्य
त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥
शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥
एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि
॥२४॥ ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामा्ँ श्छन्दतः
प्रार्थयस्व । इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया
मनुष्यैः । आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं
मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥ श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वे-
न्द्रियाणां जरयन्ति तेजः । अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव
वाहास्तव नृत्तगीते ॥ २६ ॥ न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा । जीविष्यामो यावदीशिष्यसि
त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥ अजीर्यताममृताना-
मुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन् । अभिध्यायन्वर्ण-

रतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २७ ॥ यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ॥ योऽयंवरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥

इति प्रथमेऽध्याये प्रथमा वल्ली ॥ १ ॥

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुष ꣳ सिनीतः । तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः । श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥ २ ॥ स त्वं प्रियान्प्रियरूपा ꣳ श्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः । नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति वहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥ दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता । विद्याभीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा वहवोऽलोलुपन्तः ॥ ४ ॥ अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः । दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥ ५ ॥ न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥ श्रवणायापि वहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि वहवो यं न विद्युः । आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥ न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो वहुधा चिन्त्य-

मानः । अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणु-
प्रमाणात् ॥८॥ नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञा-
नाय प्रेष्ठ ॥ यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूया-
न्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥ जानाम्यह ँ शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् । ततो मया नचिकेतश्चितो-
ऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥ कामस्याप्तिं
जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम् । स्तोमं मह-
दुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥११॥
तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्या-
त्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥
एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य । स
मोदते मोदनीय ँ हि लब्ध्वा विवृत ँ सद्म नचिकेतसं
मन्ये ॥ १३ ॥ अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृता-
कृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥१४॥
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपा ँ सि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पद ँ संग्रहेण ब्रवीम्यो-
मित्येतत् ॥ १५ ॥ एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥
एतदालम्बन ँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं
ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥ न जायते म्रियते वा
विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्व-

तोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥ हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥ अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः । आसीनो दूरं व्रजन्ति शयानो याति सर्वतः । कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २० ॥ अशरीर ँ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२१॥ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू ँ स्वाम्॥२२॥ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २३ ॥ यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥२४॥

इति प्रथमेऽध्याये द्वितीया वल्ली ॥ २ ॥

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥ यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् । अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेत ँ शकेमहि ॥ २ ॥ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ॥ बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रि-
याण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥ यस्तु विज्ञान-
वान्भवति युक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाणि वश्यानि
सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥ यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः
सदाऽशुचिः । न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधि-
गच्छति ॥७॥ यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८ ॥ विज्ञान-
सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः । सोऽध्वनः पारमाप्नोति
तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥ इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च
परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥१०॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किंचित्सा
काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥ एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न
प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्म-
नि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥ उत्तिष्ठत
जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत । क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥ अशब्दमस्पर्शमरूपम-
व्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं
ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥ नाचिकेत-
मुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳ सनातनम् । उक्त्वा श्रुत्वा च
मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥ य इमं परमं गुह्यं

श्रावयेद्ब्रह्म संसदि । प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

इति प्रथमाऽध्याये तृतीया वल्ली ॥ ३ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥ पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् । अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥ येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शा ँश्च मैथुनान् । एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यत एतद्वै तत् ॥ ३ ॥ स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ॥ महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥ य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् । ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सत एतद्वै तत् ॥ ५ ॥ यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत एतद्वै तत् ॥ ६ ॥ या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत एतद्वै तत् ॥ ७ ॥ अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः । दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निरेतद्वै तत् ॥ ८ ॥ यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति । तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत् ॥ ९ ॥ यदेवेह

तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥ मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥११॥ अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूत-भव्यस्य न ततो विजुगुप्सत एतद्वै तत् ॥ १२ ॥ अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत् ॥ १३ ॥ यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति। एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति॥१४॥ यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजा-नत आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥

इति द्वितीयेऽध्याये चतुर्थी वल्ली समाप्ता ॥ ४ ॥

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः। अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यत एतद्वै तत् ॥ १ ॥ हꣳसः शुचिषद्वसु-रन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतस-द्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥२॥ ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥ ३ ॥ अस्य विस्रꣳसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः। देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यत एतद्वै तत् ॥ ४ ॥ न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥ हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति

गौतम ॥ ६ ॥ योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥ य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत् ॥ ८ ॥ अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥ वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥ सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥ एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥ नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥ तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् । कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥ न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥

इति द्वितीयेऽध्याये पञ्चमी वल्ली समाप्ता ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत् ॥ १ ॥ यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥ भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥३॥ इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः । ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥ यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके । यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥ इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् । पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥ इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् । सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥ अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च । यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥ न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् । हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥ यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥ नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न

चक्षुषा । अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः । अस्तीत्येवोप-
लब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते
कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म
समश्नुते ॥ १४ ॥ यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ १५ ॥ शतं
चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण । तं विद्याच्छुक्र-
ममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥ मृत्युप्रोक्तां नचि-
केतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् । ब्रह्म-
प्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥

इति द्वितीयेऽध्याये षष्ठी वल्ली समाप्ता ॥ ६ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं कर-
वावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति यजुर्वेदीयकठोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

❀ प्रश्नोपनिषद् ❀

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ꣳ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥ तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छथ यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥ अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ । भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ ३ ॥ तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते । रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्य इति ॥ ४ ॥ आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा

रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥५॥ अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते । यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥ स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते । तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥ विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् । सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥ संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणञ्चोत्तरं च । तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते । त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥ ९ ॥ अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधः । तदेष श्लोकः ॥ १० ॥ पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् । अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितमिति ॥ ११ ॥ मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेते ऋषयः शुक्ल इष्टिं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥ १२ ॥ अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति । ये दिवा रत्या

संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥ अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥ तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ये मिथुनमुत्पादयन्ते । तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥ तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥

इति प्रथमः प्रश्नः ॥ १ ॥

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । भगवन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥ १ ॥ तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च । ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ ॥ तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाह मे वै तत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति ॥ ३ ॥ तेऽश्रद्दधाना बभूवुः सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते । तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते, एवमस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥ एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥५॥ अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥ प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । तुभ्यं प्राणः प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥ देवानामसि वन्हितमः पितृणां प्रथमा स्वधा । ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥ इन्द्रस्त्वं प्राणतेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता । त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥ यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः । आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥ १० ॥ व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः । वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥ ११ ॥ या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि । या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥ प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् । मातेव पुत्रान्रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि इति ॥ १३ ॥

इति द्वितीयः प्रश्नः ॥ २ ॥

अथ हैनं कौशल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ । भगवन् कुत एष प्राणो जायते, कथमायात्यस्मिञ्छरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ १ ॥ तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥ आत्मन एष प्राणो जायते । यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोऽधि-

कृते नायात्यस्मिञ्छरीरे ॥ ३ ॥ यथा सम्राडेवाधिकृता-न्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इत-रान्प्राणान्पृथक् पृथगेव संनिधत्ते ॥ ४ ॥ पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते मध्ये तु समानः । एष ह्येतद्धुतमन्नं समुन्नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ५ ॥ हृदि ह्येष आत्मा । अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडी-सहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥६॥ अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्य-लोकम् ॥ ७ ॥ आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुष-स्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ ॥ तेजो ह वाव उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः । पुन-र्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः ॥ ९ ॥ यच्चित्तस्तेनैष प्राण-मायाति प्राणस्तेजसा युक्तः । सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति ॥ १० ॥ य एवं विद्वान्प्राणं वेद । न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ११ ॥ उत्पत्ति-मायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा । अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते । विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥ १२ ॥

इति तृतीयः प्रश्नः ॥ ३ ॥

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ । भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १ ॥ तस्मै स होवाच । यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति । ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति । तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥ २ ॥ प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥ ३ ॥ यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः । मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥ ४ ॥ अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति । यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टञ्चादृष्टञ्च श्रुतञ्चाश्रुतञ्चानुभूतञ्चाननुभूतञ्च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥ ५ ॥ स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्छरीरे एतत्सुखं भवति ॥ ६ ॥ स यथा सोम्य वयांसि वासो वृक्षं संप्रतिष्ठन्ते । एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्र-

तिष्ठते ॥७॥ पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यश्च त्वक् च स्पर्शयितव्यश्च वाक् च वक्तव्यश्च हस्तौ चादातव्यश्चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यश्च पादौ च गन्तव्यश्च मनश्च मन्तव्यश्च बुद्धिश्च बोद्धव्यश्चाहङ्कारश्चाहंकर्तव्यश्च चित्तश्च चेतयितव्यश्च तेजश्च विद्योतयितव्यश्च प्राणश्च विधारयितव्यश्च ॥ ८ ॥ एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः । स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ ॥ परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य । स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः ॥ १० ॥ विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र । तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥ ११ ॥

इति चतुर्थः प्रश्नः ॥ ४ ॥

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वैतद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १ ॥ तस्मै स होवाच । एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरम-

न्वेति ॥ २ ॥ स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदित-स्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते । तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥ अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते स सोमलोकं स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥ ४ ॥ यः पुनरेतत्त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः । यथा पादोद-रस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरि-शयं पुरुषमीक्षते ॥ ५ ॥ तदेतौ श्लोकौ भवतः । तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ताः । क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्प-ते ज्ञः ॥ ६ ॥ ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्क-वयो वेदयन्ते । तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छा-न्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥ ७ ॥

इति पञ्चमः प्रश्नः ॥ ५ ॥

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ । भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत । षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद यद्यह-मिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशुष्यति

योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज । तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥ १ ॥ तस्मै स होवाच । इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति ॥ २ ॥ स ईक्षांचक्रे । कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥ ३ ॥ स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम् मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च ॥४॥ स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ५ ॥ अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः । तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥ ६ ॥ तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति ॥ ७ ॥ ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति । नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ८ ॥

इति षष्ठः प्रश्नः ॥ ६ ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ँ्सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं

यद्वायुः। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

※ इति प्रश्नोपनिषत्समाप्ता ※

मनन विचार

नाम-रूपका धर्म—

१—आत्माके नाममें एक धर्म—व्यापकत्व

२—पुरुषके नाममें २ धर्म—

सामान्य, विशेष (साक्षी)
२ २

३—ब्रह्मके नाममें ३ धर्म—

शब्द (सत्), रूप (चित्), रस (आनन्द),
१ २ ३

४—जीवके नाममें ४ धर्म—

वासना क्रिया कर्म फल
१ २ ३ ४

१०

उपर्युक्त दश धर्म शरीरमें ही हैं।

१—एक शरीररूपी वर्णके धर्ममें ४ वर्णोंके ४ धर्म हैं—

शब्द सुने, सुनावे; रूप देखे, दिखावे;
१ २

रस ग्रहण करे, करावे; गन्ध ग्रहण करे, करावे;
३ ४

उपर्युक्त नाम-रूप समुदाय (प्रवाह) का नाम संसार है। एक एक भिन्न भिन्नका नाम जगत है। उसी जगत में कर्मसे शरीर और शरीरसे कर्मकी उत्पत्ति है; उसीके फलसे दूसरे जन्मके शरीरमें फलभोग है। पूर्वशरीर में इन्द्रियोंके व्यवहारसे सम्बन्ध होता है और उस पूर्वजन्म सम्बन्धसे कर्म-शरीर उत्पन्न होता है, उसीको प्रकृति कहते हैं। वह प्रकृति पुरुषसे चैतन्य है और उसके न रहनेसे जड़ है। पूर्वसम्बन्धसे शरीरके धर्मसे प्रिय और अप्रिय दो प्रकृति (स्वभाव) है। वर्ण—कर्ण चक्षु मुख में गुणके अनुसार अनुकूल और प्रतिकूल ६ प्रकृति हैं। ये सब मिलकर ८ प्रकृति हैं, वही एक शरीरमें है। इन चारों वर्णोंसे चारों जातियाँ बन गयी हैं। यथा—कर्णके तीन ज्ञानसे ब्राह्मण जाति, और चक्षुसे क्षेत्र दो ज्ञानसे क्षत्रिय जाति, और मुखसे रस दो ज्ञानसे वैश्य जाति, और प्रिय, अप्रिय गन्ध ज्ञान नासिका सब शरीर शूद्र जाति। इन चार ज्ञानोंसे तीन द्विजाति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अधिकारसे बन गयी। शूद्र जाति एक शरीर जाति हो गयी। यही प्रिय और अनुकूल प्रकृति शरीरोंका मेल होता है, और प्रतिकूलमें द्वेष (झगड़ा) होता है।

यथा—कर्मणा प्राप्यते गोत्रं गोत्राद्वर्णोऽभिजायते।
वर्णाद्धर्मश्च वृत्तिश्च एष धर्मः सनातनः॥

विचारार्थ प्रश्न—

१—धर्ममें वर्ण है अथवा वर्णमें धर्म है ? यदि धर्म में वर्ण मान्य है तो धर्म तो एक है और वर्ण चार हैं, तथा वर्णोंके धर्म भी भिन्न भिन्न हैं।

२—वर्णसे धर्मकी उत्पत्ति होती है और वर्णमें उस धर्मका भोग होता है।

३—कौनसे वर्णके स्थानसे धर्मकी उत्पत्ति होती है और किस स्थानसे उस धर्मका भोग होता है ?

४—उस स्थानका विचार करना चाहिये।

नन्दिकेश्वरकृत कारिकाओंकी २७ संख्याका अभिप्राय

१–अ इ उ ण्	(९ स्वर)	९
२–ऋ लृ क्	(३ गुण—सत्त्व, रज, तम)	३
३–ए ओ ङ्	{ अ से युक्त इ=ए (मन) अद्वैत और असे युक्त उ=ओ ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियोंके व्यापारसे जगत् परिपूर्ण है ।}	१
४–ऐ औ च्	इन ९ सूत्रोंपरकी कारिकाओंकी ११ संख्याओंसे ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा मनका बोध होता है ।	१
५–ह य व र ट्		२
६–ल ण्		१
७–ञ म ङ ण न म्		१
८–झ भ ञ्		१
९–घ ढ ध प्		१
१०–ज ब ग ड द श्		१
११–ख फ छ ठ थ च ट त व्		२
१२–क प य्		१
१३–श प स र्	इन दो सूत्रोंपरकी कारिकाओंकी ३ संख्यासे पूर्व शरीर, वर्तमान शरीर और फलभोग शरीर, इन तीनोंका बोध होता है ।	२
१४–ह ल्		१
		२७

PHILOSOPHICAL THOUGHTS

OR

ENGLISH TRANSLATION OF A FEW CHAPTERS

OF

दार्शनिक विचार

BY

RAJA BALDEVADAS BIRLA

The Mystery of the Veda-gita

There is only one power permeating all space, and that is Atma or Brahma. It is known by different names in different forms. The constant form is called Parmatma or the Ultimate Soul and that is *"Sa Ha"*. The term Atma is used to denote its permanent character. The Great God to whom devotion is offered for the attainment of all objects and forms also resides in that permanent character. He is also called Ishvara or the Master because he makes the individual soul know the fruits of his deeds. When the body discharges a function God dwells in it as a witness and is called Purusha. He himself enjoys the fruit of the Karmas through the bodies and undergoes death and rebirth. As such Brahma is called Jeewatma or the individual Soul. In the Unmanifest, it is known as Parmatma, in the Manifest as Atma. It is also known as the world which is the totality of Spirit and Matter. It is also known as Jagat by differentiation. The self-same Jagat in form and name is also called body and Jeeva. The

body performs deeds, it enjoys their fruit and perishes. It is known as Bhava or sense-body. That which is present throughout the deeds and through which the Bhava or sense-body operates and enjoys is called the Mana or Mind. It resides in the Chitta and is Unmanifest, and the Chitta being with the Soul is manifest. When the the Bhava or sense-body makes anything that comes before it the object of its enjoyment, it determines its course of future action and is impressed by the Ego. Then it is that it creates a fresh enjoyment for itself. This enjoyment is called heaven. When actions exhaust the remainder of the Karma-Shareer or the deed-body, the resulting state is known as Moksha or salvation. The mind through the residuary action forms another body. In that body the past action is known as Fate. The same is used up in the present through the sense-organs and by the organs of action, it conduces to the formation of the Mind in the future by the deeds of renunciation. All the three, the past, the present and the future, are in the body and govern it. The fourth tense is the Mahakal, the eternal time, of the soul. It is unending. The past, the present and the

future are determined with reference to the body, but the Mahakal is determined with reference to the Sun. Hence it has been said: "Soorya atma Jagatastasthushascha." It is the life and mind in the body. Every manifestation is of Brahma and the creation of the body is due to the action of Brahma. The enjoyment gained in the form of Brahma according to the distinctions in the bodies is known as Bhoga The different actions emanating from differences in attributes and the use of the deed are performed through the mind and dwell in it, because it is the seed of the body. Just as the seed is visible and on being sown it disappears, only to reappear as a sprout growing into a tree and giving fruit, so also does the mind leave the former body and enters the semen of man and being sown into the soil of the woman emerges through the womb. It is equally applicable in the case of matter and the spirit. The same mind-seed is produced. Just as a tree yields fruit so does the body, and the same fruit is the seed as well. The same is true of the body. The Purusha represents the mind and the Jeeva or the soul represents the senses. He perishes, but the Veda-Purusha or the Mind

is constant and imperishable. Through the residuary deeds of the former body he enters another body. It is known as the present body. That is the Midday and the time. He, according to his own nature creates different worlds for himself. He enjoys the general nature of things with his sense-organs which are indicated by ear and eye; and having appropriated these experiences within his mind he creates another body by the actions that remain to be enjoyed. Hence this knowledge is called Veda.

There are three kinds of knowledge in the body. In the Chitta or the thinking mind we have the knowledge of the past, in the Mind that of the past and future, and in the present sense-body the knowledge of the present. All these three kinds of knowledge are present in the Veda, hence it is called *Trayee*. Hence "Traigunyavishaya Vedah," and "Nistraigunyo bhavarjuna" in the Gita. All these dwell in the Mahakal or the Great Time, and hence creation and destruction. That is the hidden meaning of the Veda-gita of 18 stanzas. This is clear from the 20th stanza of the Second Discourse, dealing with the begining of the Veda, namely, "Na jayate mriyate wa" etc.

The Veda-purusha is indestructible and the body is destructible, as is clear from the stanza: "Wasansi jeernani yatha vihaya" etc.

The Vedapurusha *is* there and is indestructible. The soul changes the body as a man changes his garment, and assumes another. This is the point to be understood. Brahma or the Brahman knowing the Veda dwells in every body. It is differentiated according to different bodies. This Veda dwells in the Mind, hence the Mind is called Veda. Because he knows Brahma he is also called Brahman. Akshara is Brahma and Akshara is imperishable, and the destructible, sense-body, material body and objects are perishable. Akshara is the name of the Veda. The Mind reads and it also writes. Hence the Mind is Akshara or indestructible and Nitya or Everlasting. The Akshara in the sense-body is Anitya or perishable. The same *bhava* or sense-body dies and is reborn. The deeds of the sense-body having left the body enter the Mind and the Mind through its knowledge of the present enjoys the fruit of the deed through the instrumentality of the sense-body. That Mind or Veda is imperishable and ever-present. Veda also

means knowing and making others know That method is described by the books Hence the letters of it are imperishable and the paper on which they are written is perishable. Those letters are employed by all for understanding and explaining it. It is the Mind that understands and explains, hence it is ever-present. The sense of a word can be enjoyed, hence it is *anitya* or perishable. The same Veda is in the Veda of the Mind, and it is this that has been described in this Gita of 18 stanzas.

In the internal sense-organs of every body the mind dwells and uses the word. It perceives the outward forms through the eye. Having known the object it uses words through the mouth to explain it to others. By the other this word is received through the ear and the form is seen through the eye, and the other speaks in his turn. These are the six transactions between two bodies, five resulting from the impact of the Mind with the functional and perceptional senses, and one from the Mind, independent of those senses. These are known as Shiksha, Vyakarana, Nirukta, Chhanda, Jyotisha and Kalpa or Kalpana. In the two bodies is the Veda or Vedanta. The

body is known as Vedanta as sometimes it is created by certain transactions and at others it perishes through certain other actions. The past concepts brought into the mind is Shiksha, that which is guided by it is Vyakarana, The conclusion as to the fruit or result is Nirukta. The consideration of other's fruit according to our lights is Chhanda. The implied meaning is Jyotish or astrology. Kalpa is the contemplation of the fruit or result. At one time the contact with the physical body confers the qualification and at another it is enjoyed and results into Sanyas. The form is known through the sound and the form produces the knowledge of the essence in the mind. It is known as the Veda. Through the mouth the knowledge of the form and sound is communicated to others; of the form they know through the eye and of sapidity through the tongue. One body takes possession and another enjoys. In the present the former deeds are enjoyed and in the future is received the qualification of abondonment. This *Karma-dharma* has been at length described in the 700 stanzas of the Gita. Karma or description is heard through the ear and duty or body is seen

through the eye. Through the word is known for what deed or karma is one appointed, and by its implication one knows whether it is agreeable or disagreeable and accordingly enjoys or suffers. The abandonment by functional senses results into future actions and the perceptional organs lead to Sanyas. These are the two principal functions and this is the form of the Veda-purusha. This proves that the Vedas are like the seeds as their name is in the past and in the future are their tree, fruit and seed.

Veda-Gitartha-Dipika

BHAVARTHABODHINI

(Bhagavad-gita: Shloka—II, 21)

(Vedavinashinam etc.) According to the scriptures, *that is*, the *Vedas*, the present stamps the past Karmas (deeds) and Jati (species or genus) on the mind and makes Jati and Karma predominate the Being. As the Mind represents the Veda in the body, so does the seed in the fruit in the vegetable kingdom represents the Veda. The present body is consumed up by the actions in accordance with the laws of the particular kind to which it belongs. The past Karma and Jati give birth to future fruit and body. This seed and the Mind are indestructible, while the fruit is destructible and the body is perishable. Just as the Purusha in the body is Veda-purusha, so also it is present in the seed. When we sow a mango-stone, the stone-body perishes and from its sprout the self-same seed again comes into existence. This is the Veda-purusha in the form of a seed. Men should understand this, which is explained in the above Shloka.

(Shloka—VII, 26)

(Vedaham Samateetani etc.) The seed, according to the genus to which it belongs, reproduces the sprout of the same genus, and the Being which is in the present has come from the past and will go into the future; it is omnipotent.

(Shloka—VIII, 28)

(Vedeshu Yagyeshu etc.) That sprout of the seed grows into a tree by means of sacrifice (Yagya) and austerity (Tapa). It then draws sustenance from the earth and yields fruit according to its nature. Thus, the trees and bodies, according to their past deeds and nature, give birth to the present trees and bodies.

(Shloka—X, 22)

(Vedanam Samavedosmi etc.) Of the Vedas, I am the Samaveda according to my past actions. Similarly among the gods, I am Indra because of my strength. Among the senses, I am the Mind and in the living beings I am Intelligence.

(Shloka—II, 45)

(Traigunyavishayah Vedah etc.) The Veda deals with three attributes Karma, Dharma

and Phal. The past action is in the Veda and is the constituent of the present body. The body according to its nature considers outward things as pleasant or unpleasant and accordingly experiences good or bad reactions. These reactions determine one's duty which one should perform, and the consideration of its being agreeable or otherwise should not deter one from performing it.

(Shlaka—VIII, 11).

(Yadaksharam Vedavido etc.) In the present body, the undecayable mind by virtue of its being the fruit of past action, is the Veda. It is this that speaks and hears, and untouched by passion it simply looks on all the transactions. The sum total of the past actions in the Brahma impels one to perform like actions in the present, or causes such actions to be performed.

(Shloka—XI, 48).

(Navedayagyadhyayan etc.) We have the mind and the being in the body. The being perceives the world and the mind keeps the impressions within itself. The mind can recall the past which the being cannot, and the mind

also describes the past in the future. Therefore the Mind says to the Being, "You do not know the past deeds, I do."

(Shloka—XI, 53)

(Naham Vedair na etc.) The Mind in the body says that though the objects of the past come before the being, but it does not know them. The Mind knows its forms and attributes.

(Shloka—II, 42)

(Yamimam Pushpitam etc.) In the present body, the knowledge of the past actions and words are like the flower. The worldly transaction is its fruit, and it becomes the object of the next body. Hence it remains engrossed in the fruit of its own Veda. He enjoys the fruit, to the exclusion of other fruits.

(Shloka—II, 46)

(Yavanartha udapane etc.) All the transactions that take place in the world are according to need. In every body, Veda exists according to its past impressions. He is Brahman and he knows. At present the world is like the Sea, Man like the well and Woman like the tank. The function of Man is

to give and of woman to receive. The well yields its water to those who draw it from outside, while a tank receives water both from the clouds above and from the well below, inside. The function of the Sea is to assist all in their own functions. This illustrates the actions of Man and Woman.

(Shloka—II, 52)

(Yada te mohakalilam etc.) Delusion exists in the Bhava of the body, i. e. in its senses. The world is like a dense forest and hence it does not perceive that which serves its requirements; *i. e.*, it cannot hear it and therefore cannot perceive it. When the soul makes the Budhhi, *i. e.*, intelligence, arrive at a certain decision then the requirements are fulfilled. When a man comes to a decision through his Buddhi which is controlled by his past actions, he finds a path out of the dense forest.

(Shloka—IV, 5)

(Bahuni me vyatitani etc.) In the body the organs of the senses receive and the functional organs give. These are described as constituting Bhava. This Bhava connotes the

present while the Mind points to the past and the future. He knows the present through the Bhava. Through his Chitta or thinking faculty he is enabled to know the past. The Mind is eternal, the Bhava is perishable or transient, and both are in the present body. The Mind becomes the cause of another body. The Veda in the form of Karma is in the Mind. This is the purport of the Shloka.

(Shloka—VII, 8)

(Rasohamapsu Kaunteya etc.) Atma, the Universal Soul, is the form, Brahma, the manifest universe is the sapidity (Rasa), and the Individual Soul (Purusha) is the object (Vishaya). The Mind and life (Prana) according to the distinction of the body and the Karma become the Rasa which is in keeping with the past actions and sustain and illumine the body. He is the Om in the Veda and Pranava. He hears the sound and enjoys through the individual soul.

(Shloka—XV, 15)

(Sarvasya chaham etc.) Being impelled by his past actions he remembers his past experience in the present. Residing in all the Vedas

it produces perception. The past actions spend up when they are experienced and give birth to future actions, and therefore the body is called Vedanta or the end of the Vedas.

(Shloka—XV, 18).

(Yasmat ksharam etc.) Therefore leaving destruction and assuming valour am I known as the Best among Men (Purushottam) in the world and the Vedas.

(Shloka—XVII, 23).

(Om tatsat etc.) The present body has been conditioned by the past. The Brahman in the form of knowledge recalls its function. By the help of that Veda the Brahman administers the city of sacrifices in the proper manner.

(Shloka—II, 29).

(Ascharyavat pashyati etc.) The knowledge of former deeds resides in the Chitta, which is in the body. It is called the Veda. In the present body the knowledge of the object is not necessarily co-existent with that of its attributes. Therefore one wonders while talking hearing and perceiving. The wonder is due to the distinction of the bodies.

(Shloka—I, 15)

(Oordhwamoolamadhahshakham etc.) The illustration of the world-tree equally applies to the body. The upper root in the body is the head and the feet are its branches. The former deeds are the imperishable Ashwattha. The life-functions depend upon past actions. As it is in the Veda, so it experiences the fruit.

—

Shareerik Meemansa

OR

The Inquiry into the Manifest

The philosophy of the Manifest is in the body, and through the sense-organs it sees and it acts through the functional organs and creates through the Mind; for space, sound and form constitute Brahma. The five elements are like the sound, and the form produces six *rasas*. These are further divided into seven according to distinctions of form and colour. Thus six *rasas,* seven forms and five elements together make 18 elementary constituents which correspond to the 18 sutras of Brahmasutra. The Atma or the soul, the Purusha or witness and the Jeeva or the individual soul are all in the body. The transactions of the sense-organs of the three kinds ensure salvation while the abandonment of the three kinds of the functional organs creates the body which subsequently changes into another. The 18 transactions coming into contact with these 6 make 24 elements. These are enjoyed in the manifest. But when functional organs leave them alone

they dwell in the unmanifest. It is through these six transactions that the perceptional and functional organs operate, and the action enters another body of the deed or Karma. Thus it is by creation of actions and its abandonment that one is led to salvation and incarceration. This is the Shareeraka Mimansa or Inquiry into the Manifest.

There are four discourses of the Brahma-sutra, and each of the four discourses has four parts. These 16 sutras comprise of the first sutra of every part. Brahma is the foundation of the entire world. When it is differentiated according to the forms which the different sprouts take it is called the world or the Shareer. The same sprout is a sutra. In the past it is Name, in the future it is the same tree, the fruit and the seed. From the seed the sprout is again formed. This is the Bijankur-nyaya or 'the seed and sprout maxim,' because from the seed springs up the sprout, from the sprout the tree, from the tree the flower, then the fruit and then the seed again.

WHAT ARE THE CHHANDAS?

That which is formed through the instrumentality of the body is called the Chhanda,

and it is known through the "I" or the Ego. Sound, hand and the functional organs help in the new creation. It is understood by the eye, the ear and the tongue. In grammar these are known as perceptional and functional organs respectively. Hence, this dictionary meaning, namely, Abhiprayaschhandashaya etc. is also appropriate. In prosody the meter is determined by vowel length or syllables. Therefore, Vyakarana or grammar and Chhanda or prosody are both Chhanda in the ultimate; for they propound the Chhanda because grammar accepts a word or rejects it. Prosody, through the sense-organs either accepts or rejects the meter and the Mind either accepts a letter or rejects it. So also the presence of the Chhanda in the tree should be understood. The tree is made up of leaves, flowers and seeds. the world-tree springs up from Brahma and through distinction it becomes apparent. This is Chhanda or prosody.

The Trayee Vidya or Threefold Knowledge

(1) The Mind residing in the heart is Veda. In the fruit the seed is the Veda

The difference in the seed in accordance with its form and nature creates different sprouts.

(2) The Brahmasutras should be understood in the nature of a seed and a sprout. The distinction in the sprouts conditions the body and the tree, and also shares the fruit which contains the seed. This attains diversity according to the distinctions and is the one due to the word, and Brahma is the word. The meaning is the manifestation of the word, as one word is spoken by the mouth and thousands hear it. The diverse bodies are formed according to former deeds, as the lifetime is one continuity, though different fruits are enjoyed on different days. It is the same in matter and spirit. The Chhanda or prosody is made up of the word and form and people see it, hear it and understand it. These three functions are known as *Trayee Vidya.*

Translation of Sri Nandikeshwara's Philosophical Exposition of Lord Shiva's 14 Sutras

1. Immediately after the Dance was over, Lord Shiva, the Prince of royal dancers, with a desire to enlighten the sages, Sanaka etc., played upon his drumlet fourteen times, thereby giving rise to a series of 14 aphorisms. These I am going to expound.

2. The last letter of each aphorism stands for a verb and serves the purpose of the grammarians, Panini and others.

3. (In the first aphorism *a-i-un*) the letter *a* indicates the Absolute Reality (Brahma), which pervades all things and is beyond all qualities. At the commencement of the creation, It became (ṇ) God (Ishwara) who is symbolised by *u*, by having assumed the Power of Consciousness, which is symbolised by *i*.

4. (As mentioned above,) *A*, the first of all letters, stands for the Ultimate Reality, which is all-light. With the last evolute, symbolised by letter *h*, this Primordial indeterminate Absolute becomes self-conscious (*aham*, meaning self-conscious Ego).

5 & 6. This entire world (of names and forms) existed as the Absolute Word (*Para Vak*), when it was Pure Consciousness before its manifestation. From the Pure Consciousness it arose as the visualised word (*Pashyanti Vak*). Then it reached the middle stage of manifestation (*Madhyama Vak*). Then it became the full-fledged word (*Vaikhori Vak*) as spoken by the mouth.

7. The Creative Power, symbolised by *i* became the source of all objects (letters) having come in contact with the Absolute, symbolised by *a*, because the latter is the ultimate source of everything.

8. It is said by the thinkers proficient in the Vedas that with the desire to create on the part of the Creator, the Seed of Desire came into manifestation.

9. Thus, (to repeat), *a* stands for Pure Consciouness, *i* for the Power of Consciousness, and *u* for the great Lord Vishnu who manifests everything.

10. (The second aphorism, *ri-lri-k*,) means that the Lord of all (symbolised by *ri*) manifested (indicated by *k*) the Power of Thinking (symbolised by *lri*), and having used the latter

as a means, He created the Form of the world.

11. Just as the moon and its light, a word and its meaning are not essentially different, so the Thinker and His Thinking Power are not in any way different.

12. The two neuter letters *ri* and *lri* indicate that He sows the seed of this world by His own desire in his own Power of Thought.

13. (The third aphorism *e-o-n* means that) just as *e* is formed by the combination of *a* and *i* and as *o* is formed by the combination of *a* and *u*, so all objects of the world are formed by the combination of the Lord and His Māyā. He is the one Witness of all.

14. (The fourth aphorism, *ai-au-ch*, means that) just as āi is *a-i* and āu is *a-u*, so the Lord who is of the nature of Absolute Brahman within which the entire world exists, has manifested himself by His own Will.

15. (The fifth aphorism, *ha-ya-va-ra-t*, means that) from the great Lord originated, (in the first intsance) four of the five Elements, namely, Ether, Air, Fire and Water. He himself has become these.

16. *Ha* indicates Ether; *ya*, Air; *ra* Fire;

and *va* water. Water is the same as speech (the essence of both being the same).

17. (The sixth Sutra (aphorism), *la-n* means that) Earth (indicated by *la*) which is the basis of all material beings and which is the source of all foods, was then produced. From food arises semen and from semen life.

18. (The seventh aphorisms, ञमङणनम्, means that) the five qualities, sound, touch, form, taste and smell, belong to the five elements These are found in all things.

19 & 20. (The next two aphorisms, the eighth and ninth, indicate that) the fourth letters of all the classes of the consonants symbolise the five organs of action, namely the tongue, the hands, the feet, the sex organs and the anus. They are all produced from the same ultimate reality. These organs are present in all living creatures but not in the non-living ones.

21. The letters *ja, ba, ga, da, da,* (in the tenth aphorism *ja-ba-ga-da-da-sh*) stand for the five organs of knowledge, namely, ear, skin, eye, tongue, and nose, which are present in all creatures.

22 & 23. The first five letters, *kha, pha, chha, tha, tha,* of the eleventh aphorism (*kha-pha-*

chha-tha-tha-cha-ta-ta-va), which are the second letters of the five classes of consonants, stand for the five vital currents (*Prāna* and others) and the next three letters, *cha, ta, ta* of the same sūtra, which are the first letters of the three middle classes of consonants, stand for the three functions of the internal organs, namely, mind, intellect and ego.

24. The two letters, *ka, pa,* of the next aphorism, *ka, pa y,* which are the first and the last of all the five classes of consonants, stand for Prakriti and Purusha (Object and Subject) which both come out of Brahman, the Absolute.

25 & 26. The three letters of the next (thirteenth) aphorism, (*sh-sh-sa-r*), namely *sha, sha,* and *sa,* stand for the three *gunas,* namely, *sattva, rajas,* and *tamas,* by means of which the Lord plays the game of the world. *Rajas* is produced from *sha, tama* from *sha* and *sattva* from *sa.*

27. The last aphorism (*ha-l*) indicates that (having produced the aphorisms,) the Lord, who is beyond all determinations, who is a witness of all beings, and who is equally kind and cruel to all beings, disappeared from the scene with a desire to rest in himself.

Raja Dr. Baldevadas Birla's Exposition of two shlokas (1&3) of Nandikeshwara on the Aphorisms of Shiva.

1. The expression "*nrityāvasāna*" (literally, "the close of the dance") means the fruit of actions performed by the previous body (*i. e.* of the body of the previous birth). The present personality consisting of the physical body, indicated by the word, "*nata*", feelings, indicated by the word "*rāja*" and the mind and internal organs, indicated by the word, "*rājo*", is the effect of this fruit of actions. "*Sanaka etc.*" mean the four internal organs which are desirous of enlightening the body. The activity of the mind gives a start to the activity of the vital forces and from the latter originate the nine vowels and the five classes of consonants. These are explained and made intelligible in the Exposition of the fourteen Aphorisms of Shiva. They form a net of Aphorisms, and constitute the whole of the (Sanskrit) Grammar. Shiva has affinity with water and water

is the essence of all things. Things are not intelligible on account of their being many. Hence they are called a net-work (*jāla*). This *shloka* is to be understood from the point of view of ***parā vidyā*** (the Final Understanding).

2. All bodies are ultimately of the nature of Brahman. In this aspect the body is beyond qualities. The body is made of all the elements. The organs of the body perform their activities of receiving and giving out qualities only when the mind activates the vital currents which are the energies of the body. Not otherwise. The body shares the nature of the elements, earth etc., because in them it creates and destroys a world of objects with the help of the activity of the mind. *Uṇ* means action, and it is through the fruit of action that he who is called God (Ishwara) assumes another body for enjoying the fruits of the acts of the previous body. This *shloka* is to be understood from the point of view of the lower knowledge (***a-parā-vidyā***).

The Symbolic Meanings

OF THE LETTERS OF
THE FOURTEEN SUTRAS OF SHIVA
ACCORDING TO RAJA BIRLA

No.	The Aphorism			
1.	अ	इ	उ	ण्
	Expansion	Salary	Colour	Form
	Pervader	Individual	Action	Duty
2.	ऋ	ऌ	क्	
	Colour	Activity	Duty	
	Form	Action	Fruit	
3.	ए ओ ङ्			
	Body full of action			
4.	ऐ औ च्			
	The World	Body	Right	
5.	ह य व र ट्			
	Form and Enjoyment according to Colour			
6.	लण्	The Elements are the basis of food.		
7.	ञमङणनम्	The body transmigrates according to sound.		
8.	झभञ्	Enjoyment and activity (transaction) take place in elements.		
9.	घढधष	Giving up and taking in take place an letters.		

No.		The Aphorism
10.	जवगडदश्	Enjoyment takes place in five organs of knowledge.
11.	खफछठतव्	The activities of the organs of action.
12.	कपय्	Subject-Object relationship, Mind. Practical Life.

13.

श	प	स	र्
Living & Non-living	Activity	Action	Letter
Action	Action	Enjoyment	Meaning
Duty	Duty	Fruit	Enjoyment

14.

ह	ल्
Expounded in Sankhya	Giving and taking among letters.*

---

* By letters Raja Saheb means different organs and parts of body, as is clear from the following *shloka*:—

कर्मणा प्राप्यते गोत्रं गोत्राद्वर्णोऽभिजायते ।
वर्णाद्धर्मश्च वृत्तिश्च एष धर्मः सनातनः ॥

मुद्रक और प्रकाशक
माधव विष्णु पराड़कर,
ज्ञानमंडल यन्त्रालय काशी । ३६७-९७

श्री १०८ स्वामी जी घनश्यामानन्द जी
महाराज

मुमुक्षु भवन,
काशी

दार्शनिक विचार

राजा बलदेवदास बिड़ला